धम्मपद

सम्पादक और अनुवादक

अवध किशोर नारायण बी० ए० (ऑनर्स)

प्रकाशक

महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस ।

प्रकाशक

भिक्षु संघरत्न

मन्त्री,

महाबोधि सभा, ऋषिपत्तन,

सारनाथ (बनारस)

मुद्रक

श्रीनाथदास अग्रवाल,

टाइम टेबुल प्रेस, बनारस ।

८९९-१-४९

प्रकाशकीय निवेदन

हिन्दी पाठकों के सम्मुख महाबोधि ग्रंथमाला का यह पुष्प 'धम्मपद'—मूल पालि, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद—उपस्थित करते हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है। पुस्तक के मुद्रणार्थ लंका की श्रद्धालु बौद्ध उपासिका वरकाउल्ले कुमारी हामी ने ५००) रु० का दान दिया है। हम प्रार्थना करते हैं कि बुद्ध–धर्म–संघ के त्रिरत्न के आनुभाव से आप का कल्याण हो।

विनम्र

१४–८–४६

भिक्षु संघरत्न
मन्त्री, महाबोधि सभा,
सारनाथ बनारस।

Publisher's note

It gives me great pleasure in publishing the present number of the Mahabodhi publication-series, a valuable book like The Dhammapada, together with its Pāli text, Sanskrit rendering and Hindi translation. Mrs. Warakaulle Tikiri Kumarihamy, Warakaulle Walauwa, Wattappola, Kadugannawa, Ceylon, has been kind enough to donate a sum of Rs. 500/ for the publication of the book. I invoke the blessings of the Triple Gem of the Buddha, Dhamma and Saṅgha on her for this noble gift.

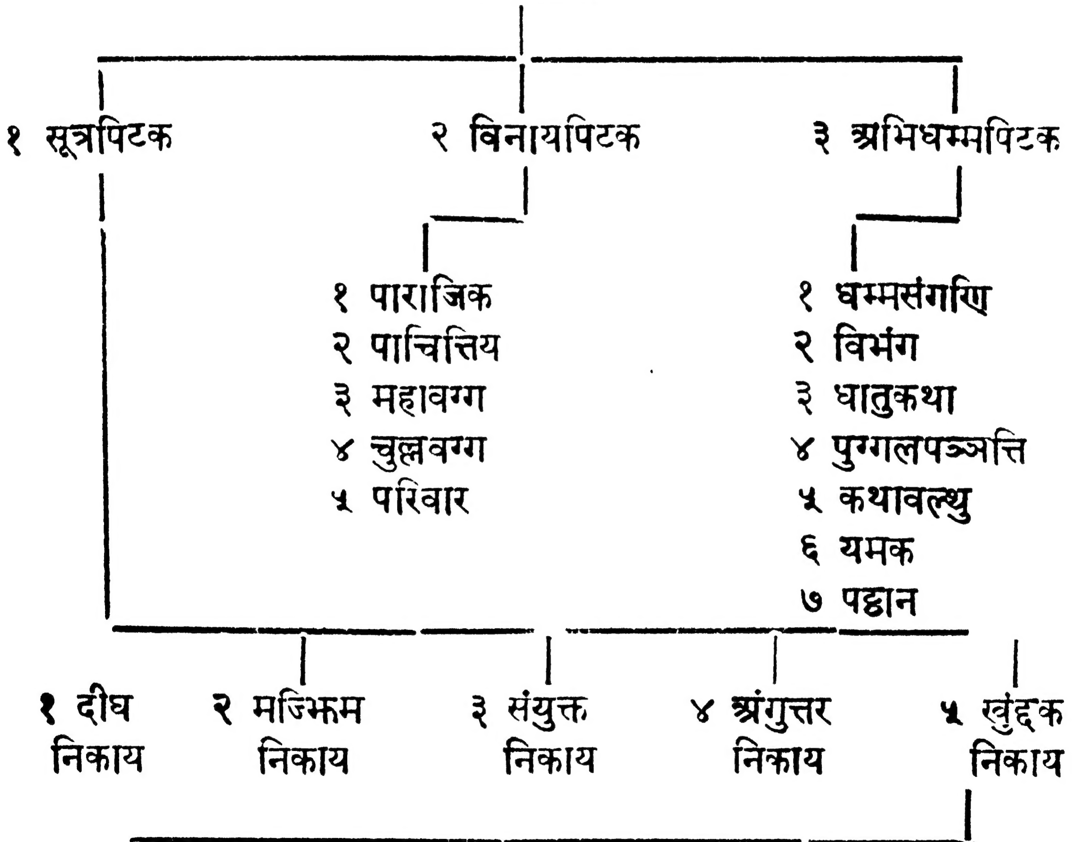
Bhikkhu, M. SANGHARATNA,
Secretary, MAHABODHI Society,
SARNATH, BENARES

14-8-46.

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

प्राक्कथन

बौद्ध संसार में 'धम्मपद' का महत्व और प्रचार उसी भाँति व्यापक है जैसे भारतवर्ष में 'गीता' का। लाखों श्रद्धालु बौद्ध नित्य प्रति 'धम्मपद' का पाठ करते हैं, और इसके अमर संदेश से अपने जीवन में प्रेरणा ग्रहण करते हैं। मूल पालि श्लोक इतने सरल और मर्मस्पर्शी हैं कि हिन्दी पाठकों को अनायास जीभ पर चढ़ जाते हैं। पालि त्रिपिटक के विशाल साहित्य में 'धम्मपद' का क्या स्थान है यह निम्नलिखित तालिका से प्रगट होगा—



(१) खुद्दक पाठ
(२) धम्मपद
(३) उदान
(४) इतिवुत्तक
(५) सुत्तनिपात
(६) विमान वत्थु
(७) पेतवत्थु
(८) थेर गाथा
(९) थेरी गाथा
(०१) जातक
(११) निद्देस
(१२) पटिसम्भिदा मग्ग
(१३) अपदान
(१४) बुद्धवंस
(१५) चरिया पिटक

इस तरह, **धम्मपद** त्रिपिटक के सूत्रपिटक के खुद्दक निकाय के पन्द्रह पन्थों में से एक है।

भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सर्वांगीन संग्रह 'धम्मपद' जैसी और कोई पुस्तिका नहीं है। इसका अधिक से अधिक प्रचार हो इसमें राष्ट्रका कल्याण है।

अपने प्रिय शिष्य उपासक अवध किशोर नारायण बी० ए० की इस प्रथम रचना को देख कर बड़ा हर्ष होता है। हम आशीर्वाद करते हैं कि त्रिरत्न के अनुभाव से वह दीर्घजीवी हो और शासन की अधिक से अधिक सेवा कर सके।

कुछ वर्ष पूर्व श्री महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित 'धम्मपद' का ठीक ऐसा ही संस्करण महाबोधि सभा द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसके समाप्त हो जाने के बाद से मूल पालि श्लोकों के साथ संस्कृत छाया की बड़ी मांग थी। प्रस्तुत पुस्तक उस अभाव की पूर्ति करती है।

हिन्दी अनुवाद सुन्दर हुआ है। किंतु संस्कृत छाया को दूसरे संस्करण में पूर्णत: शुद्ध कर लेना आवश्यक है।

भिक्षु जगदीश काश्यप
पालि अध्यापक,
हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी।

१८–८–४६

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

धम्मपद

१—यमकवग्ग

स्थान—श्रावस्ती व्यक्ति—चक्खुपाल (थेर)

१—मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ॥ १ ॥

(मनःपूर्वङ्गमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोमया
मनसा चेत्प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं दुःखमन्वेति चक्रमिव वहतः पदम् ॥१॥)

अनुवाद—(अच्छी या बुरी) सारी *प्रवृत्तियां* चित्तके अनुसार ही होती हैं; चित्त ही उनके स्वरूप का निर्णायक है; वे चित्तरूप ही होती हैं। यदि कोई दूषित चित्त से बोलता या करता है तो दुःख उसका अनुसरण करता है, जैसे गाड़ी खीचने वाले बैल के पैरके पीछे २ उसका चक्का।

श्रावस्ती मट्ठकुण्डली

२—मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति छाया' व अनपायिनी ॥ २ ॥

(मनःपूर्वङ्गमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रसन्नेन भाषते वा करोति बा।
ततस्तं सुखमन्वेति छायेवानपायिनी ॥२॥)

अनुवाद—सारी *प्रवृत्तियां* चित्त के अनुसार ही होती हैं; चित्त ही उनके स्वरूपका निर्णायक है; वे चित्तरूप ही होती हैं। यदि कोई साफ चित्त से बोलता या करता है तो कभी भी साथ न छोड़ने वाली छाया की तरह सुख उसका अनुसरण करता है।

श्रावस्ती (जेतवन) थुल्लतिस्स (थेर)

३—अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति ॥ ३ ॥

(अक्रोशीत् मां अवधीत् मां अजैषीत् मां अहार्षीत् मे।
ये च तत् उपनह्यन्ति वैरं तेषां न शाम्यति ॥ ३ ॥)

उसने मुझे डांटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे जीत लिया, उसने मेरा ले लिया—जो मन में ऐसी बातें लाते रहते हैं उनका वैर शान्त नहीं होता।

४—अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति ॥ ४ ॥

(अक्रोशीत् मां अवधीत् मां अजैषीत् मां अहार्षीत् मे।
ये तत् नोपनह्यन्ति वैरं तेषूपशाम्यति ॥ ४ ॥)

उसने मुझे डांटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे जीत लिया, उसने मेरा ले लिया—जो मनमें ऐसी बातें नहीं लाते उनका वैर शान्त हो जाता है।

श्रावस्ती (जेतवन) काली (यक्खिनी)

५—न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ ५ ॥

(न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति, एष धर्मः सनातनः ॥५॥)

इस संसार में वैर से वैर कभी शान्त नहीं होते। अवैर (=मैत्री) से ही वैर शान्त होते हैं। यही सदाका नियम है।

श्रावस्ती (जेतवन) कोसम्बक भिक्खु

६—परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ॥ ६ ॥

(परे च न विजानन्ति वयमत्र यंस्यामः।
ये च तत्र विजानन्ति ततः शाम्यन्ति मेधगाः ॥ ६ ॥)

अनाड़ी लोग इसका ख्याल नहीं करते कि हम सभी को यहां से कूच करना है। जब इसे वे अनुभव कर लेते हैं तब उनके सारे परस्परके कलह मिट जाते हैं।

श्रावस्ती चुल्लकाल, महाकाल

७—सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं हीनवीरियं।
तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं’ व दुब्बलं ॥ ७ ॥

(शुभमनुपश्यन्तं विहरन्तं इन्द्रियेषु असंवृतम्।
भोजनेऽमात्रज्ञं कुसीदं हीनवीर्यम्।
तं वै प्रसहति मारो वातो वृक्षमिव दुर्बलम् ॥७॥)

राग की दृष्टि से देखते विहार करने वाले, इन्द्रियों में असंयत, भोजन में मात्रा न जानने वाले, आलसी तथा वीर्यरहित पुरुषको पाप उसी प्रकार भ्रष्ट कर देता है, जैसे वायु दुर्बल वृक्ष को।

८—असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं।
तं वे नप्पसहति मारो वातो सेलं 'व पब्बतं ॥ ८ ॥

(अशुभमनुपश्यन्तं विहरन्तं इन्द्रियेषु सुसंवृतम्।
भोजने च मात्राज्ञं श्रद्धं आरब्धवीर्यम्।
तं वै न प्रसहते मारो वातः शैलमिव पर्वतम् ॥ ८ ॥)

वैराग्य की दृष्टिसे देखते बिहार करने वाले, इन्द्रियों में पूर्ण संयत, भोजन में मात्रा जानने वाले, श्रद्धायुक्त तथा उत्साहशील पुरुष को पाप भ्रष्ट नहीं कर सकता, वायु जैसे शैल पर्वत को।

श्रावस्ती (जेतवन) देवदत्त

९—अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति।
अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति ॥ ९ ॥

(अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं परिधास्यति।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति ॥ ९ ॥)

बिना *चित्तमलों (=कसाव)* को हटाये जो *काषाय* वस्त्र धारण [क]रता है वह संयम और सत्य से हीन काषाय वस्त्र का अधिकारी नहीं है।

१०—यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति ॥ १० ॥

(यश्च वान्तकषायः स्यात् शीलेषु सुसमाहितः ।
उपेतो दम-सत्याभ्यां स वै काषायमर्हति ॥१०॥)

जिसने चित्तमलों का त्याग कर दिया है, शील पर प्रतिष्ठित है, संयम और सत्य से युक्त है, वही काषाय वस्त्र का अधिकारी है।

राजगृह (वेणुवन) संजय

११—असारे सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा ॥ ११ ॥

(असारे सारमतयः सारे चासारदर्शिनः ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिथ्यासङ्कल्पगोचराः ॥ ११ ॥)

असारको सार समझने वाले और *सारको असार, मिथ्या संकल्प* में पड़े वे *सारको* प्राप्त नहीं करते।

१२—सारञ्च च सारतो ञत्वा असारञ्च असारतो ।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्कप्पगोचरा ॥ १२ ॥

(सारं च सारतो ज्ञात्वा, असारं च असारतः ।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्यक्-सङ्कल्प-गोचराः ॥१२॥)

सम्यक् संकल्प से युक्त, जो असार को असार और सार को सार समझते हैं वे ही सार को प्राप्त करते हैं।

श्रावस्ती (जेतवन) नन्द (थेर)

१३—यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥ १३ ॥

(यथागारं दुश्छन्नं वृष्टिः समतिविध्यति ।
एवं अभावितं चित्तं रागः समतिविध्यति ॥१३॥)

जैसे बुरी तरह छाये घर में वृष्टि का जल पैठ जाता है उसी प्रकार ध्यानाभ्यास से रहित चित्त में राग पैठ जाता है।

१४—यथागारं सुच्छन्नं वुट्ठी न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ॥१४॥

(यथागारं सुच्छन्नं वृष्टिर्न समतिविध्यति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविध्यति ॥१४॥)

जैसे अच्छी तरह छाये घर में वृष्टि का जल नहीं पैठ पाता उसी प्रकार ध्यानाभ्यास से अभ्यस्त चित्त में राग नहीं पैठ पाता।

राजगृह (वेणुवन) चुन्द (सूकरिक)

१५—इध सोचति पेच्च सोचति
पापकारो उभयत्थ सोचति।
सो सोचति सो विहञ्ञति
दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥ १५ ॥

(इह शोचति प्रेत्य शोचति पापकारी उभयत्र शोचति।
स शोचति स विहन्यते दृष्ट्वा कर्मक्लिष्टमात्मनः ॥१५॥)

इस लोक में शोक करता है और परलोक में जा कर भी; पापी दोनों जगह शोक करता है। वह शोक करता है, परेशान होता है, अपने मैले कर्मों को देख कर।

श्रावस्ती (जेतवन) धर्मिक (उपासक)

१६—इध मोदति पेच्च मोदति
कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति।

सो मोदति सो पमोदति
दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥ १६ ॥

(इह मोदते प्रेत्य मोदते कृतपुण्य उभयत्र मोदते ।
स मोदते स प्रमोदते दृष्ट्वा कर्मविशुद्धिमात्मनः ॥१६॥)

इस लोक में मोद करता है और परलोक में जाकर भी; पुण्यशील दोनों जगह मोद करता है। वह मोद करता है, प्रमोद करता है—अपने कर्मों की विशुद्धि को देख कर।

श्रावस्ती (जेतवन) देवदत्त

१७—इध तप्पति पेच्च तप्पति,
पापकारी उभयत्थ तप्पति।
पापं मे कतन्ति तप्पति,
भीय्यो तप्पति दुग्गतिङ्गतो ॥ १७ ॥

(इह तप्यति प्रेत्य तप्यति पापकारी उभयत्र तप्यति ।
पापं मे कृतमिति तप्यति, भूयस्तप्यति दुर्गतिंगतः ॥१७॥)

इस लोक में संताप करता है और परलोक जा कर भी संताप करता है। 'मैं ने पाप किया है' सोच संताप करता है। दुर्गति को प्राप्त हो और भी अधिक संताप करता है।

श्रावस्ती (जेतवन) सुमना देवी

१८—इध नन्दति पेच्च नन्दति,
कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
पुञ्ञं मे कतन्ति नन्दति,
भीय्यो नन्दति सुग्गतिंगतोः ॥ १८ ॥

(इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्य उभयत्र नन्दति
पुण्यं मे कृतमिति नन्दति, भूयो नन्दति सुगतिंगतः॥१८॥)

इस लोक में आनन्द करता है और परलोक जाकर भी; पुण्यशील दोनों जगह आनन्द करता है। 'मैंने पुण्य किया है' सोच आनन्द करता है। सुगति को प्राप्त हो और भी अधिक आनन्द करता है।

श्रावस्ती (जेतवन) दो मित्र भिक्षु

१९—बहुंपि चे संहितं भासमानो,
न तक्करो होति नरो पमत्तो।
गोपो व गावो गणयं परेसं
न भागवा सामञ्ञस्स होति॥ १९॥

(बह्वीमपि संहितां भाषमाणः,
न तत्करो भवति नरः प्रमत्तः।
गोप इव गा गणयन् परेषां,
न भागवान् श्रामण्यस्य भवति॥१९॥)

चाहे कोई भले ही अनेक ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु प्रमाद में पड़ यदि उनके अनुकूल आचरण न करे तो वह, दूसरों की गौवें गिनने वाले चरवाहे की भांति, सन्यास-व्रत का अधिकारी नहीं होता।

२०—अप्पम्पि चे संहितं भासमाना,
धम्मस्स होति अनुधम्मचारी।
रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं,

सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो ।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा,
स भागवा सामञ्ञस्स होति ॥ २० ॥

(अल्पामपि संहितां भाषमाणो
धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी ।
रागं च द्वेषं च प्रहाय मोहं
सम्यक् प्रजानन् सुविमुक्तचित्तः ।
अनुपाददन् इह वाऽमुत्र वा,
स भागवान् श्रामण्यस्य भवति ॥२०॥)

चाहे कोई भले थोड़े ही ग्रन्थों का पाठ करने वाला हो, किन्तु धर्मानुकूल आचरण करता हो, राग-द्वेष-मोह को छोड़ सचेत और मुक्तचित्त वाला हो तथा इस लोक या परलोक कहीं भी आसक्ति न रखता हो, तो वह (यथार्थ में) सन्यास व्रत का अधिकारी है ।

२——अप्पमादवग्गो

कौशाम्बी (घोषिताराम) सामावती (रानी)

२१—अप्पमादो अमत-पदं पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता ॥ १ ॥

(अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम् ।
अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृताः ॥ १ ॥)

सतत-उत्साहशीलता अमृत-पद निर्वाण का साधक है, और उत्साह-हीनता मृत्यु-पद *संसार-बन्ध* का । उत्साहशील मृत्यु को नहीं प्राप्त होते । उत्साहहीन तो मृत ही हैं ।

२२—एतं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता ।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥ २ ॥

(एवं विशेषतो ज्ञात्वाऽप्रमादे पण्डिताः ।
अप्रमादे प्रमोदन्त आर्याणां गोचरे रताः ॥ २ ॥)

यह बात अच्छी तरह जान, पण्डित लोग बुद्धों के उपदिष्ट आचरण में रत, उत्साहशील हो प्रमुदित होते हैं ।

२३—ते झायिनो सातितिका निच्चं दळ्ह-परक्कमा ।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं ॥ ३ ॥

(ते ध्यायिनः सातिका नित्यं दृढपराक्रमाः ।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं योगक्षेमं अनुत्तरम् ॥ ३ ॥)

सतत ध्यान का अभ्यास करनेवाले, नित्य दृढपराक्रमी धीर पुरुष परमपद *योग-क्षेम* निर्वाण का लाभ करते हैं ।

राजगृह (वेणुवन) कुम्भघोसक

२४—उट्ठानवतो सतीमतो
सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो ।
सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो
अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति ॥ ४ ॥

(उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशम्य-कारिणः ।
संयतस्य च धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोभिवर्द्धते ॥४॥)

(*जो*) *उद्योगी*, सचेत, शुचि कर्मवाला, तथा सोचकर काम करनेवाला है, और संयत, धर्मानुसार जीविकावाला एवं अप्रमादी है, (उसका) यश बढ़ता है ।

राजगृह (वेणुवन) चुल्लपन्थक (थेर)

२५—उट्ठानेनप्पमादेन सञ्ञमेन दमेन च ।
दीपं कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ॥ ५ ॥

(उत्थानेनाऽप्रमादेन संयमेन दमेन च ।
द्वीपं कुर्यात् मेधावी यं ओघो नाभिकिरति ॥ ५ ॥)

मेधावी (पुरुष) उद्योग, अप्रमाद, संयम और दम द्वारा (अपने लिए ऐसा) *द्वीप* बनावें जिसे बाढ़ नहीं डुबा सके ।

जेवतन बालनक्खत्तघुट्ट (होली)

२६—पमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना ।
अप्पमादञ्च मेधावी धनं सेट्ठं' व रक्खति ॥ ६ ॥

(प्रमादमनुयुंजन्ति बाला दुर्मेधसो जनाः ।
अप्रमादं च मेधावी धनं श्रेष्ठमिव रक्षति ॥ ६ ॥)

मूर्ख नासमझ लोग आलस्य में पड़े रहते हैं । बुद्धिमान पुरुष श्रेष्ठ धनकी तरह अपनी उत्साहशीलता को सुरक्षित रखता है ।

२७—मा पमादमनुयुञ्जथ मा कामरतिसन्थवं ।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥७॥

(मा प्रमादमनुयुंजीत मा कामरतिसंस्तवम् ।
अप्रमत्तो हि ध्यायन् प्राप्नोति विपुलं सुखम् ॥७॥)

मत प्रमाद में फँसो, मत कामों में रत होओ, मत काम रति में लिप्त हो । प्रमाद रहित (पुरुष) ध्यान करते महान् सुखको प्राप्त होता है ।

जेतवन महाकस्सप (थेर)

२८—पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो ।
पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं ।
पब्बतट्ठो' व भूम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति ॥८॥

(प्रमादमप्रमादेन यदा नुदति पण्डितः ।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोकः शोकिनीं प्रजाम् ।
पर्वतस्थ इव भूमिस्थान् धीरो बालान् अवेक्षते ॥८॥

जब पण्डित प्रमाद को अप्रमाद से हटा देता है तब वह शोक रहित हो—जैसे कोई पर्वत पर चढ़ नीचे खड़े लोगों को देखे वैसे ही—प्रज्ञा रूपी प्रासाद पर चढ़ संसार में पड़ी जनताको शोक से आकुल देखता है।

जेतवन दो मित्र भिक्षु

२९--अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं'व सीघस्सो हित्त्वा याति सुमेधसो ॥९॥

(अप्रमत्तः प्रमत्तेषु सुप्तेषु बहुजागरः।
अबलाश्वमिव शीघ्राश्वो हित्त्वा याति सुमेधाः ॥९॥)

प्रमादी लोगों में अप्रमादी, तथा (अज्ञान की नींद में) सोये लोगों में (प्रज्ञासे) जागरणशील विज्ञ उसी प्रकार आगे निकल आता है, जैसे तेज घोड़ा दुर्बल घोड़े से आगे हो जाता है।

वैशाली (कूटागार) महाली

३०—अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ॥१०॥

(अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः।
अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा ॥१०॥)

अप्रमाद (= आलस्य रहित होने) के कारण इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना। सभी अप्रमादकी प्रशंसा करते हैं। प्रमादकी सदा निन्दा होती है।

जेतवन कोई भिक्षु

३१—अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
सञ्ञोजनं अणुं थूलं डहं अग्गीव गच्छति ॥११॥

(अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा ।
संयोजनं अणुं स्थूलं दहन् अग्निरिव गच्छति ॥११॥)

जो भिक्षु अप्रमादमें रत है और प्रमादसे भय खानेवाला है वह आगकी भाँति, छोटे मोटे बंधनोंको जलाते हुए आगे निकल जाता है ।

जेतवन (निगम-वासी) तिस्स (थेर)

३२—अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा ।
अभब्बो परिहाणाय निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥१२॥

(अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा ।
अभव्यः परिहाणाय निर्वाणस्यैव अन्तिके ॥१२॥)

जो भिक्षु अप्रमाद में रत है, प्रमाद से भय खाता है वह निर्वाणके निकट पहुँच चुका है, उसका मार्ग से च्युत होना सम्भव नहीं ।

३—चित्तवग्गो

चालिय पर्वत   मेघिय (थेर)

३३—फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो'व तेजनं ॥१॥

(स्पंदनं चपलं चित्तं दूरक्ष्यं दुर्निवार्यम्।
ऋजुं करोति मेधावी इषुकार इव तेजनम्॥ १ ॥)

चित्त क्षणिक है, चपल है, इसे रोक रखना कठिन है और इसे निवारण करना भी दुष्कर है। (ऐसे चित्त को) मेधावी पुरुष (यत्न-पूर्वक) एकाग्र करता है, जैसे वाण बनाने वाला वाण को।

३४—वारिजो'व थले खित्तो ओकमोकत उब्भतो।
परिफन्दति'दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे ॥२॥

(वारिजं इव स्थले क्षिप्तं उदकौकत उद्भूतम्।
परिस्पन्दत इदं चित्तं मारधेयं प्रहातुम्॥ २ ॥)

अपने रहने वाले जलाशय से निकाल बाहर स्थल पर फेंक दी गई मछली जिस प्रकार तड़फड़ाती है उसी प्रकार यह चित्त पापके फन्दे से निकलने के लिए आकुल है।

श्रावस्ती   कोई

३५—दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥३॥

(दुर्निग्रहस्य लघुनो यत्र-काम-निपातिनः।
चित्तस्य दमनं साधु, चित्तं दान्तं सुखावहम् ॥ ३ ॥)

जिसका निग्रह करना बड़ा कठिन है, जो बहुत हलके स्वभाव का है, जो जहाँ चाहे वहाँ झट चला जाता है—ऐसे चित्त का दमन करना उत्तम है। दमन किया हुआ चित्त सुखदायक होता है।

श्रावस्ती — कोई उत्कण्ठित भिक्षु

३६—सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी, चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥ ४ ॥

(सुदुर्दृशं सुनिपुणं यत्र-कामनिपातिनं।
चित्तं रक्षेत् मेधावी, चित्तं गुप्तं सुखावहम् ॥ ४ ॥)

जिसे समझना आसान नहीं, जो अत्यन्त चालाक है, जो जहां चाहे झट चला जाता है—बुद्धिमान पुरुष ऐसे चित्त की रक्षा करें। सुरक्षित चित्त सुखदायक होता है।

श्रावस्ती — संघरक्खित (थेर)

३७—दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्ञमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥ ५ ॥

(दूरंगमं एकचरं अशरीरं गुहाशयम्।
ये चित्तं संयंस्यन्ति मुच्यन्ते मारबन्धनात् ॥ ५ ॥)

दूरगामी, अकेला विचरनेवाले, निराकार, गुहाशायी इस चित्तका जो संयम करेंगे, वही मारके बन्धन से मुक्त होंगे।

श्रावस्ती चित्तहत्थ (थेर)

३८—अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥ ६ ॥

**(अनवस्थितचित्तस्य सद्धर्मं अविजानतः।
परिप्लवप्रसादस्य प्रज्ञा न परिपूर्यते ॥ ६ ॥)**

जिसके चित्तमें समाधि नहीं, जिसे सद्धर्मका ज्ञान नहीं, तथा जिसकी श्रद्धा चंचल है उसकी प्रज्ञा पूर्ण नहीं हो सकती।

३९—अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ॥ ७ ॥

**(अनवस्रुतचित्तस्य अनन्वाहतचेतसः।
पुण्यपापप्रहीणस्य नास्ति जाग्रतो भयम् ॥ ७ ॥)**

जिसके चित्त में राग नहीं, जिसका चित्त द्वेष से रहित है—उस पापपुण्य से ऊपर उठे ज्ञानी को भय नहीं।

श्रावस्ती पाँच सौ विपश्यक भिक्षु

४०—कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा
नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन
जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया ॥ ८ ॥

**(कुम्भोपमं कायमिमं विदित्वा
नगरोपमं चित्तमिदं स्थापयित्वा।**

युध्येत मारं प्रज्ञायुधेन
जितं च रक्षेत् अनिवेशनः स्यात् ॥ ८ ॥)

इस शरीर को घडेकी तरह (अनित्य) जान, इस चित्तको नगरकी तरह (रक्षित और दृढ़) ठहरा, प्रज्ञा रूपी शस्त्र से पाप (मार) के साथ युद्ध करे। जीत लेने पर बिना आसक्ति लाये उसकी रक्षा करे।

श्रावस्ती पूतिगत्त तिस्स (थेर)

४१—अचिरं वत'यं कायो पठविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं 'व कलिङ्गरं ॥ ९ ॥

(अचिरं वतायं कायः पृथिवीं अधिशेष्यते।
क्षुद्रोऽपेतविज्ञानो निरर्थं इव कलिङ्गरम् ॥ ९ ॥)

अहो! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनारहित हो निरर्थक काठकी भाँति पृथिवीपर पड़ रहेगा।

कोसल देश नन्द (गोप)

४२—दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे ॥ १० ॥

(द्विट् द्विषं यत् कुर्यात् वैरी वा पुनः वैरिणम्।
मिथ्याप्रणिहितं चित्तं पापीयांसं तं ततः कुर्यात् ॥१०॥)

जितनी (हानि) शत्रु शत्रुकी, और बैरी बैरीकी करता है, झूठे (मार्गपर) लगा चित्त उससे अधिक बुराई करता है।

कोसल देश सोरेय्य (थेर)

४३—न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे चापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे ॥ ११ ॥

(न तत् मातापितरौ कुर्यातां अन्ये चापि च ज्ञातिकाः।
सम्यक्प्रणिहितं चित्तं श्रेयांसं तं ततः कुर्यात् ॥ ११ ॥)

जितनी (भलाई) न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु; उससे (अधिक) उसकी भलाई ठीक (मार्गपर) लगा चित्त करता है।

४—पुप्फवग्गो

श्रावस्ती | पाँच सौ भिक्षु

४४—को इमं पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव प्पचेस्सति ॥ १ ॥

(क इमां पृथिवीं विजेष्यते यमलोकं च इमं सदेवकम् ।
को धर्मपदं सुदेशितं कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥ १ ॥)

इस पृथ्वी को तथा देवताओं सहित इस यमलोक को कौन जीतेगा ? कौन कुशल पुरुष पुष्प की तरह सूपदिष्ट धर्म-पदों का संग्रह करेगा ?

४५—सेखो पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इदं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव प्पचेस्सति ॥ २ ॥

(शैक्षः पृथिवीं विजेष्यते यमलोकं च इमं सदेवकम् ।
शैक्षो धर्मपदं सुदेशितं कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥ २ ॥)

शैक्ष्य इस पृथ्वी को तथा देवताओं सहित इस यमलोक को जीतेगा। कुशल शैक्ष्य पुष्प की तरह धर्मपदों का संग्रह करेगा।

श्रावस्ती | मरीचि (कम्मट्ठानिक थेर)

४६—फेणूपमं कायमिमं विदित्त्वा
मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानो,

छेत्वान मारस्य पपुप्फकानि
अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे ॥ ३ ॥

(फेनोपमं कायमिमं विदित्त्वा
मरीचिधर्म्मं अभिसम्बुधानः ।
छित्त्वा मारस्य प्रपुष्पकाणि
अदर्शनं मृत्युराजस्य गच्छेत् ॥ ३ ॥)

इस शरीर को फेन की तरह तथा मृगमरीचिका की तरह (असार) जान, पाप के आकर्षणों को काट यमराज की दृष्टि के परे हो जाय ।

श्रावस्ती विदूडभ

४७–पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरम् ।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चू आदाय गच्छति ॥ ४ ॥

(पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं ग्रामं महोघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥ ४ ॥)

पुष्पकी तरह संसार की आकर्षक दिखावटों के उपभोग में पड़े, आसक्त मन वाले, मनुष्य को *मृत्यु (पाप)* **उसी तरह ले जाता है, जैसे सोये गांव को बड़ी बाढ़ ।**

श्रावस्ती पतिपूजिका

४८–पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं ।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं ॥ ५ ॥

(पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम्
अतृप्तं एव कामेषु अन्तकः कुरुते वशम् ॥ ५ ॥)

पुष्पकी तरह संसार की आकर्षक दिखाटों के उपभोग में पड़े, आसक्त मन वाले, तथा काम-भोग में जिसकी तृप्ति नहीं होती उसे यमराज अपने बस में कर लेता है।

श्रावस्ती (कंजूस) कोसिय सेठ

४९—यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥ ६॥
(यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धं अघ्नन्।
पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिश्चरेत्॥ ६॥)

जैसे भ्रमर पुष्पके वर्ण और गन्ध को बिना हानि पहुँचाये, रसको लेकर चल देता है, *वैसे ही मुनि ग्राम में भिक्षाटन करे।*

श्रावस्ती पाठिक (आजीवक साधु)

५०—न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं।
अत्तनो'व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च॥ ७॥
(न परेषां विलोमानि न परेषां कृताकृतम्।
आत्मन एव अवेक्षेत कृतानि अकृतानि च॥ ७॥)

न तो दूसरों के दोष और न दूसरों के किये तथा न किये की आलोचना करें। अपने स्वयं क्या किया है और क्या नहीं इसी का चिन्तन करे।

श्रावस्ती छत्तपाणि (उपासक)

५१—यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो॥ ८॥
(यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवद् अगन्धकम्।
एवं सुभाषिता वाक् अफला भवति अकुर्वतः॥ ८॥)

जैसे रुचिर और वर्णयुक्त (किन्तु) गंधरहित फूल है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण न करनेवालेकी सुभाषित वाणी भी निष्फल है।

५२—यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति कुब्बतो ॥ ९ ॥

(यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवत् सगन्धकम्।
एवं सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः ॥ ९ ॥)

जैसे रुचिर और वर्णयुक्त गन्धसहित फूल होता है, वैसे ही (वचनके अनुसार काम) करनेवालेकी सुभाषित वाणी सफल होती है।

श्रावस्ती पूर्वाराम — विशाखा (उपासिका)

५३—यथापि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालागुणे बहू।
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥ १० ॥

(यथापि पुष्पराशेः कुर्यात् मालागुणान् बहून्।
एवं जातेन मर्त्येन कर्त्तव्यं कुशलं बहु ॥ १० ॥)

जैसे पुष्पों की राशिसे कोई अनेक माला की लड़ियां बनावे, वैसे ही जन्म ले कर मनुष्यको अनेक पुण्य करने चाहिए।

श्रावस्ती — आनन्द (थेर)

५४—न पुप्फगन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥ ११ ॥

(न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति
न चन्दनं तगर-मल्लिके वा।
सतां च गन्धः प्रतिवातमेति
सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति॥ ११॥)

पुष्प, चन्दन, तगर या चमेली किसी की भी सुगन्धि हवाके उलटे नहीं जाती। किंतु सन्तों का यश हवाके उलटे भी फैलता है। सत्पुरुष सभी दिशाओं को व्याप्त कर देता है।

५५—चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो॥ १२॥

(चन्दनं तगरं वापि उत्पलं अथ वार्षिकी।
एतेषां गन्धजातानां शीलगन्धोऽनुत्तरः॥ १२॥)

चन्दन या तगर, कमल या जूही, इन सभी (की) सुगंधोंसे सदाचारकी सुगंध उत्तम है।

राजगृह (वेणुवन) महाकस्सप

५६—अप्पमत्तो अयं गन्धो या'यं तगरचन्दनी।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो॥ १३॥

(अल्पमात्रोऽयं गन्धो योऽयं तगरचन्दनी।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु उत्तमः॥ १३॥)

तगर और चन्दनकी जो यह गंध फैलती है, वह अल्पमात्र है; और जो यह सदाचारियोंकी गंध है, (वह) उत्तम (गंध) देवताओंमें फैलती है।

राजगृह (वेणुवन) गोधिक (थेर)

५७—तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं ।
सम्मदञ्ञाविमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति ॥ १४ ॥

(तेषां सम्पन्नशीलानां अप्रमाद-विहारिणाम् ।
सम्यग्-ज्ञा-विमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति ॥ १४ ॥)

(जो) वे सदाचारी निरालस हो विहरनेवाले, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त (हो गये हैं), (उनके) मार्गको मार नहीं पकड़ सकता ।

जेतवन गरहादिन्न

५८—यथा संकारधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे ।
पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं ॥ १५ ॥

(यथा संकारधान उज्झिते महापथे ।
पद्म तत्र जायेत शुचिगन्धं मनोरमम् ॥ १५ ॥)

५९—एवं संकारभूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने ।
अतिरोचति पञ्ञाय सम्मासम्बुद्धसावको ॥ १६ ॥

(एवं संकारभूते अन्धभूते पृथग्जने ।
अतिरोचते प्रज्ञया सम्यक्-संबुद्ध-श्रावकः ॥ १६ ॥)

बड़ी सड़कके किनारे फेंके कूड़ेके ढेर पर जिस तरह कोई सुगंध सुन्दर पद्म उत्पन्न हो जाय, उसी तरह कूड़ेके समान क्षुद्र अज्ञ संसारसक्त जनतामें सम्यक् सम्बुद्धका शिष्य अपनी प्रज्ञा से अत्यधिक शोभित होता है ।

५—बालवग्गो

श्रावस्ती (जेतवन) दरिद्र सेवक

६०—दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं॥ १॥

(दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम्।
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्मं अविजानताम्॥ १॥

जागने वाले को रात लम्बी मालूम होती है। थके हुए के लिए एक योजन बहुत लम्बा होता है। सद्धर्म को न जानने वाले अज्ञ पुरुष के आवागमन का चक्र (=संसार) लम्बा होता है।

राजगृह सार्द्धविहारी (=शिष्य)

६१—चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दळ्हं कयिरा नत्थि बाले सहायता॥ २॥

(चरन् चेत् नाधिगच्छेत् श्रेयांसं सदृशं आत्मनः।
एकचर्यां दृढं कुर्यात् नास्ति बाले सहायता॥ २॥)

विचरण करते यदि अपने से श्रेष्ठ या अपने समान कोई व्यक्ति न मिले तो दृढ़ता पूर्वक अकेला ही रहे। मूर्ख से मित्रता अच्छी नहीं।

श्रावस्ती आनन्द (सेठ)

६२—पुत्ता म'त्थि धनम्म'त्थि इति बालो विहञ्ञति।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्तो कुतो धनं॥ ३॥

(पुत्रा मे सन्ति धनं मे ऽस्ति इति बालो विहन्यते ।
आत्मा हि आत्मनो नास्ति कुतः पुत्रः कुतो धनम् ॥ ३ ॥)

मेरा पुत्र है, मेरा धन है—इस प्रकार मूर्ख परेशान होता है। मनुष्य अपना आप नहीं है; पुत्र और धन उसके कहां तक होंगे !

जेतवन गिरहकट चोर

६३—यो बालो मञ्ञती बाल्यं पण्डितो चापि तेन सो ।
बालो च पण्डितमानी, स वे बालो'ति वुच्चति ॥ ४ ॥

(यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितश्चापि तेन स ।
बालश्च पंडितमानी स वै बाल इत्युच्यते ॥ ४ ॥)

जो मूर्ख अपनी मूर्खता को समझता है इस कारण वह पण्डित है। जो मूर्ख हो अपने को पण्डित समझता है वही यथार्थ में मूर्ख है।

श्रावस्ती (जेतवन) उदायी (थेर)

६४—यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति ।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥

(यावज्जीवमपि चेद् बालः पंडितं पर्युपास्ते ।
न स धर्मं विजानाति दर्वी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥)

मूर्ख यदि जन्म भर पण्डित के साथ रहे तौ भी धर्म का बोध नहीं करता, ठीक वैसे ही जैसे कलछी तरकारी के रसास्वाद का।

श्रावस्ती (जेतवन) भद्रवर्गीय (भिक्षुलोग)

६५—मुहुत्तमपि चे विञ्ञू पण्डितं पयिरुपासति ।
खिप्पं धम्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा ॥ ६ ॥

(मुहूर्त्तमपि चेद् विज्ञः पंडितं पर्युपास्ते ।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा ॥ ६ ॥)

चाहे विज्ञ पुरुष एक मुहूर्त ही पंडित की सेवा में रहे, तो भी वह शीघ्र ही धर्म को जान लेता है, जैसे कि जिह्वा सूपके रसको ।

राजगृह (वेणुवन) सुप्पबुद्ध (कोढ़ी)

६६—चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना।
करोन्तो पापकं कम्मं यं होति कटुकप्फलं ॥ ७ ॥

(चिरन्ति बाला दुर्मेधसोऽमित्रेणैवात्मना ।
कुर्वन्तः पापकं कर्म यद् भवति कटुकफलम् ॥ ७ ॥)

दुर्बुद्धि मूर्ख अपना शत्रु स्वयं होकर पाप कर्म करते विचरण करता है जिसका फल कटु होता है ।

जेतवन कोई कस्सप

६७—न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति ।
यस्य अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ॥ ८ ॥

(न तत् कर्म कृतं साधु यत् कृत्वाऽनुतप्यते ।
यस्याश्रुमुखो रुदन् विपाकं प्रतिसेवते ॥ ८ ॥)

वह काम करना अच्छा नहीं जिसे करने के बाद पश्चात्ताप करना पड़े, जिसका फल आंखों में आंसू ला रोते हुए भोगना पड़े ।

(वेणुवन) सुमन (माली)

६८—तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुतप्पति ।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥ ९ ॥

(तच्च कर्म कृतं साधु यत् कृत्वा नानुतप्यते ।
यस्य प्रतीतः सुमना विपाकं प्रतिसेवते ॥ ६ ॥)

वही काम करना अच्छा है जिसे करने के बाद पश्चात्ताप न करना पड़े, जिसका फल प्रसन्नता के साथ प्राप्त हो ।

जेतवन उप्पलवण्णा (थेरी)

६९—मधू'व मञ्ञति बालो याव पापं न पच्चति ।
यदा च पच्चती पापं अथ बालो दुक्खं निगच्छति ॥ १० ॥

(मध्विव मन्यते बालो यावत् पापं न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापं अथ दुःखं निगच्छति ॥ १० ॥)

जब तक पाप का *विपाक* नहीं होता तब तक मूर्ख को वह मीठा लगता है । जब पाप का फल होता है तब मूर्ख दुःख को प्राप्त होता है ।

राजगृह (वेणुवन) जम्बुक (आजीवक)

७०—मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं ॥ ११ ॥

(मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुंजीत भोजनम् ।
न स संख्यातधर्माणां कलामर्हति षोडशीम् ॥ ११ ॥)

मूर्ख *महीने महीने पर कुश के अग्र भाग से* भोजन करे तौ भी वह धर्म साक्षात्कार करने वालों के (महत्व के) सोलहवें अंश का भी अधिकारी नहीं हो सकता ।

राजगृह (वेणुवन) अहिपेत

७१—न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं 'व मुच्चति ।
डहन्तं बालमन्वेति भस्माच्छन्नो 'व पावको ॥ १२ ॥

(नहि पापं कृतं कर्म सद्यः क्षीरमिव मुंचति ।
दहन् बालमन्वेति भस्माच्छन्न इव पावकः ॥ १२ ॥)

किया गया पाप शीघ्र ही अपना फल नहीं लाता । जैसे, ताजा दूध शीघ्र ही जम नहीं जाता । राख से ढकी आग की तरह वह (पाप कर्म) जलाता हुआ मूर्ख का अनुगमन करता है ।

राजगृह (वेणुवन) सट्ठिकूट (पेत)

७२—यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति ।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ॥ १३ ॥

(यावदेव अनर्थाय ज्ञप्तं बालस्य जायते ।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं मूर्धानमस्य विपातयन् ॥ १३ ॥)

मूर्ख का सारा ज्ञान उसी के अनर्थ के लिए होता है । वह मूर्ख की अच्छाई का नाश करता है, और उसके शिर को नीचा गिराता है ।

जेतवन सुधम्म (थेर)

७३—असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारञ्च भिक्खुसु ।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च ॥ १४ ॥

(असद् भावनमिच्छेत् पुरस्कारं च भिक्षुषु ।
आवासेषु चैश्वर्यं पूजा परकुलेषु च ॥ १४ ॥)

७४—ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो ।
ममेवातिवसा अस्सू किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि
इति बालस्स सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ॥ १५ ॥

(ममैव कृतं मन्येतां गृहि-प्रव्रजितावुभौ ।
ममैवातिवशाः स्यातां कृत्त्याकृत्त्येषु कस्मिश्चित् ।
इति बालस्य संकल्प इच्छा मानश्च बर्द्धते ॥ १५ ॥)

भिक्षुओं के बीच अगुआ होना, मठों का अधिपति बनना, गृहस्थ परिवारों में पूजित होना, गृही और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें, सभी प्रकार के काम में वे मेरे ही आधीन रहें—ऐसी अनुचित इच्छा करता है। इस प्रकार मूर्ख के संकल्प, और अहंकार बढ़ते हैं।

श्रावस्ती (जेतवन) (बनवासी) तिस्स (थेर)

७५—अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान-गामिनी ।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको ॥
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये ॥ १६ ॥

(अन्या हि लाभोपनिषद् अन्या निर्वाणगामिनी ।
एवमेतद् अभिज्ञाय भिक्षुर्बुद्धस्य श्रावकः ।
सत्कारं नाभिनन्देत् विवेकमनुबृंहयेत् ॥ १६ ॥)

अनुवाद—लाभका रास्ता दूसरा है, और निर्वाणको लेजानेवाला दूसरा—इस प्रकार इसे जानकर बुद्धका अनुगामी भिक्षु सत्कारका अभिनन्दन न करे, और विवेक (= एकान्तचर्या) को बढ़ावे ।

बालवर्ग समाप्त

६—पण्डित वग्गो

जेतवन　　　　　　　　　　　　　　　　　　राध (थेर)

७६—निधीनं व　पवत्तारं　यं　पस्से　वज्ज-दस्सिनं।
निग्गय्हवादिं　मेधाविं　तादिसं　पण्डितं　भजे।
तादिसं　भजमानस्स　सेय्यो होति न　पापियो ॥ १ ॥

(निधीनामिव प्रवक्तारं यं पश्येत् वर्ज्यदर्शिनम्।
निगृह्यवादिनं, मेधाविनं, तादृशं पंडितं भजेत्।
तादृशं भजमानस्य श्रेयो भवति न पापीयः ॥ १ ॥)

दोष दिखा देने वाले को वैसा ही (प्रिय) समझे जैसा वह जो गड़े खजानों का भेद बताने वाला हो। संयत करके उपदेश करने वाले वैसे मेधावी पण्डित के साथ रहे। वैसे (सत्पुरुष) के साथ रहने से कल्याण ही होता है बुरा नहीं।

जेतवन　　　　　　　　　　　　　　　　　　अस्सजी, पुनव्वसू

७७—ओवदेय्यानुसासेय्य　असब्भा　च　निवारये।
सतं हि सो पियो होति असतं　होति अप्पियो ॥ २ ॥

(अववदेदनुशिष्याद्　असभ्याच्च　निवारयेत्।
सतां हि स प्रियो भवति असतां भवत्यप्रियः ॥ २ ॥)

जो सदुपदेश दे, सुमार्ग दिखावे तथा कुमार्ग से निवारण करे वह सज्जनों को प्रिय होता है, किंतु दुर्जनों को अप्रिय।

जेतवन छन्न (थेर)

७८—न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे ॥ ३ ॥

(न भजेत् पापानि मित्राणि न भजेत् पुरुषाधमान्।
भजेत् मित्राणि कल्याणानि भजेत् पुरुषोत्तमान् ॥ ३ ॥)

बुरे मित्रों के साथ न रहे। अधम पुरुषों का संग न करे। *सन्मित्र* के साथ रहे। उत्तम पुरुषों का संग करे।

जेतवन महाकप्पिन (थेर)

७९—धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो ॥ ४ ॥

(धर्मपीतीः सुखं शेते विप्रसन्नेन चेतसा।
आर्यप्रवेदिते धर्मे सदा रमते पंडितः ॥ ४ ॥)

धर्म में आनन्द मानने वाला अत्यन्त श्रद्धायुक्त चित्त से सुख पूर्वक विहार करता है। पण्डितजन बुद्ध के उपदिष्ट धर्म में सदा रत रहता है।

जेतवन पण्डित सामणेर

८०—उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका
अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥ ५ ॥

(उदकं हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः ॥५॥)

नहर वाले पानी को लेजाते हैं, बाण बनाने वाले बाण को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं; और पंडित (जन) अपने आपका दमन करते हैं।

जेतवन भद्दिय (थेर)

८१—सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता॥ ६॥

(शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते।
एवं निन्दाप्रशंसासु न समीर्यन्ते पण्डिताः॥ ६॥)

जैसे ठोस पहाड़ हवासे कंपायमान नहीं होता; वैसे ही पंडित निन्दा और प्रशंसासे विचलित नहीं होते।

जेतवन काण-माता

८२—यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता॥ ७॥

(यथापि ह्रदो गम्भीरो विप्रसन्नोऽनाविलः।
एवं धर्मान् श्रुत्वा विप्रसीदन्ति पण्डिताः॥ ७॥)

जैसा गम्भीर स्वच्छ निर्मल जलाशय हो, वैसा ही पण्डित लोग धर्मको सुन कर शुद्ध हो जाते हैं।

जेतबन पाँच सौ भिक्षु

८३—सब्बत्थ वे सप्पुरिसा वजन्ति
न कामकामा लपयन्ति सन्तो।

सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन
न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥ ८ ॥

(सर्वत्र वै सत्पुरुषा व्रजन्ति न कामकामा लपन्ति सन्तः ।
सुखेन स्पृष्टा अथवा दुःखेन नोच्चावचं पण्डिता दर्शयन्ति ॥८॥)

सत्पुरुष सभी जगह जाते हैं किंतु वे अपनी मतलब की बातें नहीं करते । सुख हो या दुःख, पण्डित लोग अपने में विकार नहीं प्रदर्शन करते ।

८४—न अत्तहेतु न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं ।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया ॥ ९ ॥

(नात्महेतोः न परस्य हेतोः
न पुत्रमिच्छेत् न धनं न राष्ट्रम् ।
नेच्छेद् अधर्मेण समृद्धिमात्मनः
स शीलवान् प्रज्ञावान् धार्मिकः स्यात् ॥९॥)

न अपने लिये और न दूसरे के लिये, न पुत्र की इच्छा करे न धन की और न राज्य की । अधर्म से अपनी उन्नति की इच्छा न करे । शीलवान्, प्रज्ञावान् और धार्मिक बने ।

जेतवन धर्मश्रवण

८५—अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥ १० ॥

(अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जनाः पारगामिनः ।
अथेमा इतराः प्रजाः तीरमेवानुधावति ॥ १० ॥)

मनुष्यों में ऐसे बहुत थोड़े हैं जो यथार्थ में *उस पार* जाना चाहते हों। अधिक तो ऐसे हैं जो *किनारे ही किनारे* दौड़ते हैं।

८६—ये च खो सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो ।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सुदुत्तरं ॥ ११ ॥

(ये च खलु सम्यगाख्याते धर्मे धर्मानुवर्तिनः ।
ते जनाः पारमेष्यन्ति मृत्युधेयं सुदुस्तरम् ॥ ११ ॥)

जो अच्छी तरह उपदिष्ट धर्म में धर्मानुचरण करते हैं वे ही दुस्तर मृत्यु के राज्य को पार करेंगे।

जेतवन पाँच सौ नवागत भिक्षु

८७—कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो ।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं ।

(कृष्णं धर्मं विप्रहाय शुक्लं भावयेत् पण्डितः ।
ओकात् अनोकं आगम्य विवेके यत्र दूरमम् ॥ १२ ॥)

८८—तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो ।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥ १३ ॥

(तत्राभिरतिमिच्छेत् हित्वा कामान् अकिंचनः ।
पर्यवदापयेत् आत्मानं चित्तक्लेशैः पण्डितः ॥ १३ ॥)

पण्डित बुरी बात को छोड़ अच्छी का अभ्यास करे। घर से बेघर हो एकान्त स्थान में रहे जहां साधारण लोगों का मन नहीं लगता।

कामनाओं को छोड़ अकिञ्चन हो पण्डितजन अपने को चित्त के मलों से शुद्ध करे।

८९—येसं सम्बोधि-अङ्गेसु सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदान-पटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता ॥ १४ ॥

**(येषां सम्बोध्यंगेषु सम्यक् चित्तं सुभावितम्।
आदानप्रतिनिःसर्गे अनुपादाय ये रताः।
क्षीणास्रवा ज्योतिष्मन्तस्ते लोके परिनिर्वृताः ॥१४॥)**

जिनका चित्त *सम्बोध्यङ्गों* में अच्छी तरह अभ्यस्त हो गया है, जो अनासक्त हो परिग्रह के त्याग में रत हैं, *क्षीणाश्रव* द्युतिमान हैं, वे ही संसार में निर्वाण पा चुके हैं।

७—अरहन्तवग्गो

राजगृह (जीवकका आम्रवन) जीवक

९०—गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि ।
सब्बगन्थप्पहीणस्य परिलाहो न विज्जति ॥ १ ॥
(गताध्वानो विशोकस्य विप्रमुक्तस्य सर्वथा ।
सर्वग्रन्थप्रहीणस्य परिदाहो न विद्यते ॥ १ ॥)

जिसने *मार्ग तय कर लिया* है, शोकरहित सर्वथा विमुक्त हो गया है, जिसकी सभी *ग्रन्थियां प्रहीण* हो गई हैं उसे कोई सन्ताप नहीं ।

राजगृह (वेणुवन) महाकस्सप

९१—उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो न निकेते रमन्ति ते ।
हंसा 'व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ॥ २ ॥
(उद्युंजते स्मृतिमन्तो न निकेते रमन्ते ते ।
हंसा इव पल्वलं हित्वा ओकमोकं जहति ते ॥ २ ॥)

स्मृतिमान् हो उद्योग करते हैं, गृहस्थ जीवन में वे रमण नहीं करते । हंस जैसे क्षुद्र जलाशय को छोड़ कर उड़ जाता है, वैसे वे सभी गृहवास को छोड़ देते हैं ।

जेतवन वेलट्ठि सीस

९२—येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे 'व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ॥ ३ ॥

(येषां सन्निचयो नास्ति ये परिज्ञातभोजनाः ।
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां गतिः तेषां दुरन्वया ॥ ३ ॥)

जिन्हें कोई संग्रह नहीं, जो भोजन में संयत हैं, *शून्य और अनिमित्त स्वरूप* निर्वाण पर जो समाधिस्थ हैं उनकी गति, आकाश के पक्षी की गति की भांति, अज्ञेय है ।

राजगृह (वेणुवन) अनुरुद्ध (थेर)

९३—यस्सा'सवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे 'व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नयं ॥ ४ ॥

(यस्यास्रवाः परिक्षीणा आहारे च अनिसृतः ।
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां पदं तस्य दुरन्वयम् ॥ ४ ॥)

जिसके आश्रव क्षीण हो गए हैं, आहार में जिसे आसक्ति नहीं, *शून्य और अनिमित्त स्वरूप* निर्वाण पर जो समाधिस्थ है उसकी स्थिति, आकाश के पक्षी की स्थिति की भांति, अज्ञेय है ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) महाकच्चायन

९४—यस्सिन्द्रियाणि समथं गतानि,
अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीनमानस्स अनासवस्स,
देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥ ५ ॥

(यस्येन्द्रियाणि शमतां गतानि
अश्वा यथा सारथिना सुदान्ताः।
प्रहीणमानस्य अनास्रवस्य देवा
अपि तस्य स्पृहयन्ति तादृशः ॥ ५ ॥)

सारथी के द्वारा दमन कर लिए गए अश्व के समान जिसकी इन्द्रियाँ शान्त हो गई हैं, वैसे अहंकार रहित अनाश्रव सन्त की स्पृहा देवता लोग भी करते हैं।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

९५—पठवीसमो नो विरुज्झति
इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो 'व अपेतकद्दमो
संसारा न भवन्ति तादिनो ॥ ६ ॥

(पृथिवीसमो न विरुध्यते इन्द्रकीलोपमस्तादृक् सुव्रतः ।
ह्रद इवापेतकर्दमः संसारा न भवन्ति तादृशः ॥ ६ ॥)

वैसा सुव्रत, इन्द्र*कील* के समान (दृढ़), तथा पृथ्वी के समान अकम्प्य होता है। वह पंक-रहित जलाशय के समान स्वच्छ है। वह संसार की *ग्रन्थियों* में बद्ध नहीं होता।

जेतवन कोसम्बिभासित तिस्स (थेर)

९६—सन्तं अस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञाविमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो ॥ ७ ॥

(शान्तं तस्य मनो भवति शान्ता वाक् च कर्म च ।
सम्यगाज्ञाविमुक्तस्य उपशान्तस्य तादृशः ॥ ७॥)

यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्त हुये उस उपशान्त (अर्हत् पुरुष) का मन शान्त होता है, वाणी और कर्म शान्त होते हैं।

जेतवन सारिपुत्र (थेर)

९७—अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ॥ ८ ॥

(अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः।
हतावकाशो वान्ताशः स वै उत्तमपुरुषः ॥ ८ ॥)

जो (अन्ध) विश्वास से रहित है, अकृत निर्वाण का ज्ञानी है, पुनर्जन्म होना जिसे सम्भव नहीं, जिसने सारी तृष्णा का त्याग कर दिया है, वही उत्तम पुरुष है। ❀

जेतवन (खदिरवनी) रेवत (थेर)

९८—गामे वा यदि वा'रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमिं रामणेय्यकं ॥ ९ ॥

(ग्रामे वा यदि वाऽऽरण्ये निम्ने वा यदि वा स्थले।
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमी रमणीया ॥ ९ ॥)

गाँव में या जंगल में, निम्न या ऊँचे स्थल में जहाँ कहीं अर्हत् लोग विहार करते हैं, वही रमणीय भूमि है।

जेतवन आरण्यक भिक्षु

९९—रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमते जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो ॥ १० ॥

(रमणीयान्यारण्यानि यत्र न रमते जनः ।
वीतरागा रंस्यन्ते न ते कामगवेषिणः ॥ १० ॥)

रमणीय बन, जहाँ (साधारण) जन रमण नहीं करते, वहाँ काम (भोगों) के पीछे न भटकने वाले वीतराग रमण करेंगे ।

८—सहस्सवग्गो

वेणुवन तम्बदाठिक (चोरघातक)

१००—सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता ।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥ १ ॥

(सहस्रमपि चेद् वाचः अनर्थपदसंहिताः ।
एकमर्थपदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति ॥ १ ॥)

व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्रों वाक्यों से भी (वह) सार्थक एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति होती है ।

जेतवन दारुचीरिय (थेर)

१०१—सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता ।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥ २ ॥

(सहस्रमपि चेद् गाथा अनर्थपदसंहिताः ।
एकं गाथापदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति ॥ २ ॥)

व्यर्थ के पदों से युक्त हज़ार गाथाओं से भी एक गाथापद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर० ।

जेतवन कुण्डलकेसी (थेर)

१०२—यो च गाथासतं भासे अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥ ३ ॥

(यश्च गाथाशतं भाषेतानर्थपदसंहितम् ।
एकं धर्मपदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति ॥ ३ ॥)

जो अनर्थपदों से युक्त सौ गाथायें भी पढ़े, उससे कहीं अच्छा एक धर्मपद है जिसे सुनकर उपशान्त हो जाता है ।

१०३—यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ॥ ४ ॥

(यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत् ।
एकं च जयेद् आत्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥ ४ ॥)

जो कोई संग्राम में हज़ारों मनुष्यों को जीत ले, उससे कहीं बढ़ कर संग्राम-विजयी वह है जो एक अपने स्वयं को जीत ले ।

जेतवन — अनर्थ-पुच्छक ब्राह्मण

१०४—अत्ता ह वे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा ।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥ ५ ॥

(आत्मा ह वै जितः श्रेयान् या चेयमितराः प्रजाः ।
दान्तात्मनः पुरुषस्य नित्यं संयतचारिणः ॥ ५ ॥)

१०५—नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना ।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो ॥ ६ ॥

(नैव देवो न गन्धर्वो न मारः सह ब्रह्मणा ।
जितं अपजितं कुर्यात् तथा रूपस्य जन्तोः ॥ ६ ॥)

इन अन्य प्रजाओं के जीतने की अपेक्षा अपने को जितना श्रेष्ठ है । अपने को दमन करनेवाले, नित्य अपने को संयम करनेवाले, जो पुरुष हैं

उनके जीते को, न देवता, न गन्धर्व, न ब्रह्मा सहित *मार*, बेजीता कर सकते हैं।

वेणुवन सारिपुत्तके मामा

१०६—मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं॥ ७॥

(मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतं समान्।
एकं च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत्।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम्॥ ७॥)

सहस्र (दक्षिणा यज्ञ) से जो महीने महीने सौ वर्ष तक यजन करे, और यदि परिशुद्ध मनवाले एक (पुरुष) को एक मुहूर्त ही पूजे; तो सौ वर्ष के हवन से यह पूजा ही श्रेष्ठ है।

वेणुवन सारिपुत्तका भांजा

१०७—यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं॥ ८॥

(यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने।
एकं च भवितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत्।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम्॥ ८॥)

यदि प्राणी सौ वर्ष तक वन में अग्निपरिचरण (=अग्निहोत्र) करे, और यदि०।

वेणुवन सारिपुत्तका मित्र ब्राह्मण

१०८—यं किंचि यिट्ठं च हुतं च लोके,
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बम्पि तं न चतुभागमेति,
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो ॥ ९ ॥

(यत् किंचिद् इष्टं च हुतं च लोके,
संवत्सरं यजेत पुण्यापेक्षः।
सर्वमपि तत् न चतुर्भागमेति,
अभिवादना ऋजुगतेषु श्रेयसी ॥ ९ ॥)

पुण्य की अभिलाषा से यदि वर्ष भर लोक के सभी यज्ञ और हवन करे तो भी *ऋजुभूत* सन्त को किए एक प्रणाम का चौथा हिस्सा फल भी नहीं प्राप्त होता है।

अरण्यकुटी दीघायु कुमार

१०९—अभिवादनसीलिस्स निच्चं बद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा बड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं ॥ १० ॥

(अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः।
चत्वारो धर्मा वर्धन्ते आयुर्वर्णः सुखं बलम् ॥ १० ॥)

जो अभिवादन शील है, जो सदा वृद्धों की सेवा करनेवाला है, उसकी *चार बातें (=धर्म)* बढ़ती हैं—आयु, वर्ण, सुख और बल।

जेतवन संकिच्च (=सांकृत्य) सामणेर

११०—यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥ ११ ॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् दुःशीलोऽसमाहितः।
एकाहं जीवितं श्रेयः शीलवतो ध्यायिनः॥ ११॥)

दुराचारी और एकाग्रता रहित (=असमाहित) के सौ वर्ष के जीने से भी सदाचारी और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

जेतवन कोण्डञ्ञ (थेर)

१११—यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स झानियो॥ १२॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् दुष्प्रज्ञोऽसमाहितः।
एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः॥ १२॥)

दुष्प्रज्ञ और असमाहित के सौ वर्ष के जीने से भी प्रज्ञावान् और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।

जेतवन सप्पदास (थेर)

११२—यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दळ्हं॥ १३॥

(यश्च वर्षशतं जीवेत् कुसीदो हीनवीर्यः।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढम्॥ १३॥)

आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ उद्योग करनेवाले के जीवन का एक दिन श्रेष्ठ है।

जेतवन पटाचारा (थेरी)

११३—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयब्बयं॥ १४॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् उदयव्ययम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यत उदयव्ययम् ॥ १४ ॥)

(संसार में वस्तुओं के) उत्पत्ति और विनाश का बिना मनन किए सौ वर्ष के जीवन से, उत्पत्ति और विनाश के मनन-शील के जीवन का एक दिन श्रेष्ठ है ।

जेतवन किसागोमती

११४—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं ॥ १५ ॥

(यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् अमृतं पदम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतोऽमृतं पदम् ॥ १५ ॥)

अमृतपद (= दुःखनिर्वाण) को न ख्याल किए सौ वर्ष के जीवन से, अमृतपद को देखनेवाले जीवन का एक दिन श्रेष्ठ है ।

जेतवन बहुपुत्तिका (थेरी)

११५—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥ १६ ॥

(यश्च वर्षशतं जीवेदपश्यन् धर्ममुत्तमम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम् ॥ १६ ॥)

उत्तम धर्म को बिना जाने सौ वर्ष के जीवन से, उत्तम धर्म के देखनेवाले के जीवन का एक दिन श्रेष्ठ है ।

९--पापवग्गो

जेतवन (चूल) एकसाटक (ब्राह्मण)

११६—अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये ।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमते मनो ॥ १ ॥

(अभित्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत् ।
तन्द्रितं हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः ॥ १ ॥)

पुण्य करने में शीघ्रता करे, पापसे चित्तको हटावे। पुण्य कार्य में शिथिलता करने वाले का मन पाप में लग जाता है।

जेतवन सेय्यसक (थेर)

११७—पापञ्चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं ।
न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥ २ ॥

(पापं चेत् पुरुषः कुर्यात् न तत् कुर्यात् पुनः पुनः ।
न तस्मिं छन्दं कुर्यात्, दुःखः पापस्य उच्चयः ॥ २ ॥)

मनुष्य यदि पाप कर दे तो उसे बार २ न करे। उसमें इच्छा न बढ़ावे। पापका संचय दुःख का कारण होता है।

जेतवन लाजदेवकी कन्या

११८—पुञ्ञञ्चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं ।
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥ ३ ॥

(पुण्यं चेत् पुरुषः कुर्यात्, कुर्याद् एतत् पुनः पुनः ।
तस्मिं छन्दं कुर्यात् सुखः पुण्यस्य उच्चयः ॥ ३ ॥)

यदि मनुष्य पुण्य करे तो उसे बार २ करे। उस में खूब उत्साह बढ़ावे। पुण्य का संचय सुखका कारण होता है।

जेतवन अनाथपिण्डिक (सेठ)

११९—पापोपि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति ।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति ॥ ४ ॥

(पापोऽपि पश्यति भद्रं यावत् पापं न पच्यते ।
यदा च पच्यते पापं अथ पापः पापानि पश्यति ॥ ४ ॥)

जब तक पाप का फल नहीं मिलता है तब तक पापी को पाप बड़ा अच्छा लगता है। जब पाप का फल होता है तब वह पापों को अपने स्वरूप में देखता है।

१२०—भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति ।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ॥ ५ ॥

(भद्रोऽपि पश्यति पापं यावद् भद्रं न पच्यते ।
यदा च पच्यते भद्रं अथ भद्रः भद्राणि पश्यति ॥ ५ ॥)

जब तक पुण्य का फल नहीं मिलता तब तक पुण्यात्मा को पुण्य बुरा लगता है। जब पुण्यका फल होता है तब वह पुण्य को अपने स्वरूप में देखता है।

जेतवन असंयमी (भिक्षु)

१२१—मावमञ्ञेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति ।
उदविन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति ।
बालो पूरति पापस्स थोक्क-थोकम्पि आचिनं ॥ ६ ॥

(मा ऽ वमन्येत पापं न मां तद् आगमिष्यति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते ।
बालः पूरयति पापं स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥ ६ ॥)

"वह मेरे, पास नहीं आयेगा" ऐसा (सोच) पाप की अवहेलना न करे । पानी की बूंद के गिरने से घड़ा भर जाता है । (ऐसे ही) मूर्ख थोड़ा-थोड़ा संचय करते पाप को भर लेता है ।

जेतवन बिलालपाद (सेठ)

१२२—मावञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति ।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स थोक-थोकम्पि आचिनं ॥ ७ ॥

(माऽवमन्येत पुण्यं न मां तद् आगमिष्यति ।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो ऽपि पूर्यते ।
धीरः पूरयति पुण्यं स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥ ७ ॥)

"वह मेरे पास नहीं आयेगा" —ऐसा (सोच) पुण्य की अवहेलना न करे । पानी को० । धीर थोड़ा-थोड़ा संचय करते पुण्य को भर लेता है ।

जेतवन महाधन (वणिक्)

१२३—वाणिजो 'व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो ।
विसं जीवितुकामो'व पापानि परिवज्जये ॥ ८ ॥

(वणिगिव भयं मार्गं अल्पसार्थो महाधनः ।
विषं जीवितुकाम इव पापानि परिवर्जयेत ॥ ८ ॥)

थोड़े काफिले और महाधन वाला बनजारा जैसे भययुक्त रास्ते को

छोड़ देता है, अथवा जीने की इच्छा वाला पुरुष जैसे विष को छोड़ देता है वैसे ही पुरुष पापों को छोड़ दे।

वेणुवन कुक्कुटमित्त

१२४—पाणिम्हि चे वणो नास्स हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥ ९ ॥

(पाणौ चेद् व्रणो न स्यात् हरेत् पाणिना विषम्।
नाऽव्रणं विषमन्वेति, नास्ति पापं अकुर्वतः ॥ ९ ॥)

यदि हाथ में घाव न हो, तो हाथ से विष को ले ले (क्योंकि) घाव(= व्रण)–रहित (शरीर में) विष नहीं लगता; (इसी प्रकार) न करनेवाले को पाप नहीं लगता।

जेतवन कोक (कुत्ते का शिकारी)

१२५—यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं,
सुखमो रजो पटिवातं 'व खित्तो॥ १० ॥

(योऽल्पदुष्टाय नराय दुष्यति
शुद्धाय पुरुषायाऽनङ्गणाय।
तमेव बालं प्रत्येति पापं, सूक्ष्मो
रजः प्रतिवातमिव क्षिप्तम् ॥ १० ॥)

जो दोषरहित शुद्ध निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, उसी अज्ञ को (उसका) पाप लौट कर लगता है। (जैसे कि) सूक्ष्म धूलि को हवा के आने के रुख फेंकने से (वह फेंकनेवाले पर पड़ती है)।

जेतवन (माणिकारकुलूपग) तिस्स (थेर)

१२६—गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो ।
सग्गं सुगतिनो यन्ति, परिनिब्बन्ति अनासवा ॥ ११ ॥

**(गर्भमेके उत्पद्यन्ते, निरयं पापकर्मिणः ।
स्वर्गं सुगतयो यान्ति, परिनिर्वान्त्यनास्रवाः ॥११॥)**

कोई (पुरुष) गर्भ में उत्पन्न होते हैं, (कोई) पापकर्मा नरक में (जाते हैं), (कोई) सुगतिवाले (पुरुष) स्वर्ग को जाते हैं; (और चित्त के) मलोंसे रहित (पुरुष) निर्वाणको प्राप्त होते हैं ।

जेतवन ३ भिक्षु

१२७—न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥ १२ ॥

**(नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये
न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो
यत्रस्थितो मुच्येत पापकर्मणः ॥१२॥)**

न आकाश में न समुद्र के मध्य में न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर—संसार में कोई स्थान नहीं है, जहाँ रहकर—पाप कर्मों के (फल से) प्राणी बच सके ।

कपिलवस्तु (न्यग्रोधाराम) सुप्पबुद्ध (शाक्य)

१२८—न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितं न प्पसहेय्य मच्चू ॥१३॥

(नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये
न पर्वतानां विवरं प्रविश्य।
न विद्यते स जगति प्रदेशो
यत्रस्थितं न प्रसहेत मृत्युः ॥१३॥)

न आकाश में०—जहाँ रहनेवाले को मृत्यु न सतावे।

१०—दण्डवग्गो

जेतवन — छब्बग्गिय (भिक्षु)

१२९—सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥ १ ॥

(सर्वे त्रस्यन्ति दण्डात् सर्वे बिभ्यति मृत्योः ।
आत्मानं उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥ १ ॥)

दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं, अपने समान (इन बातों को) जानकर न मारे न मारने की प्रेरणा करे ।

जेतवन — छब्बग्गिय (भिक्षु)

१३०—सब्बे तसन्ति दंडस्स सब्बेसं जीवितं पियं ।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ॥ २ ॥

(सर्वे त्रस्यन्ति दण्डात् सर्वेषां जीवितं प्रियम् ।
आत्मानं उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत् ॥ २ ॥)

सभी दण्ड से डरते हैं, सब को जीवन प्रिय है, (इसे) अपने समान जानकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करे ।

जेतवन — बहुत से लड़के

१३१—सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं ॥ ३ ॥

(सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति ।
आत्मनः सुखमन्विष्यन् प्रेत्य स न लभते सुखम् ॥ ३ ॥)

१३२—सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति ।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं ॥ ४ ॥

(सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिनस्ति ।
आत्मनः सुखमन्विष्यन् प्रेत्य स लभते सुखम् ॥ ४ ॥)

सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से जो दण्ड से मारता है, वह मर कर सुख नहीं पाता। सुख चाहने वाले प्राणियों को, अपने सुख की चाह से, जो दण्ड से नहीं मारता, वह मर कर सुख को प्राप्त होता है।

जेतवन कुण्डधान (थेर)

१३३—मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं ।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥ ५ ॥
(मा वोचः परुषं किंचिद् उक्ताः प्रतिवदेयुस्त्वाम् ।
दुःखा हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डाः स्पृशेयुस्त्वाम् ॥५॥)

१३४—स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा ।
एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति ॥ ६ ॥
(स चेत् नेरयसि आत्मानं कांस्यमुपहतं यथा ।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं संरम्भस्ते न विद्यते ॥ ६ ॥)

कठोर बचन न बोलो, बोलने पर (दूसरे भी वैसे ही) तुम्हें बोलेंगे, दुर्वचन दुःखदायक (होते हैं), (बोलने से) बदले में तुम्हें

दण्ड मिलेगा। टूटा कांसा जैसे निःशब्द रहता है, (वैसे) यदि तुम अपने को (निःशब्द रक्खो), तो तुमने निर्वाण को पालिया, तुम्हारे लिये कलह (= हिंसा) नहीं रही।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) विसाखा आदि (उपासिकायें)

१३५—यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति गोचरं।
एवं जरा च मच्चू च आयुं पाचेन्ति पाणिनं ॥ ७ ॥

(यथा दंडेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम्।
एवं जरा च मृत्युश्चायुः प्राजयतः प्राणिनाम् ॥ ७ ॥)

जैसे ग्वाला लाठी से गायों को चरागाह में ले जाता है; वैसे ही बुढ़ापा और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाते हैं।

राजगृह (वेणुवन) अजगर (प्रेत)

१३६—अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो 'व तप्पति ॥ ८ ॥

(अथ पापानि कर्माणि कुर्वन् बालो न बुध्यते।
स्वैः कर्मभिः दुर्मेधा अग्निदग्ध इव तप्यते ॥ ८ ॥)

पाप कर्म करते वक्त मूढ़ (पुरुष उसे) नहीं बूझता, पीछे दुर्बुद्धि अपने ही कर्मों के कारण आग से जले की भाँति अनुताप करता है।

राजगृह (वेणुवन) महामोग्गलान (थेर)

१३७—यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति ॥ ९ ॥

(यो दण्डेनादण्डेष्वप्रदुष्टेषु दुष्यति।
दसानामन्यतमं स्थानं क्षिप्रमेव निगच्छति ॥ ९ ॥)

१३८—वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स च भेदनं।
गरुकं वापि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे ॥ १० ॥

(वेदनां परुषां ज्यानिं शरीरस्य च भेदनम्।
गुरुकं वाऽप्याबाधं चित्तक्षेपं वा प्राप्नुयात् ॥ १० ॥)

१३९—राजतो वा उपस्सग्गं अब्भक्खानं व दारुणं।
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुणं ॥ ११ ॥

(राजतो वोपसर्गमभ्याख्यानं वा दारुणम्।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां भोगानां वा प्रभंजनम् ॥ ११ ॥)

१४०—अथवस्स अगारानि अग्गी डहति पावको।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति ॥ १२ ॥

(अथवाऽस्यागाराण्यग्निर्दहति पावकः।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो निरयं स उपपद्यते ॥ १२ ॥)

जो दण्ड-रहितों को दण्ड से (पीड़ित करता है), निर्दोषों को दोष लगाता है, वह शीघ्र ही इन बातों में से एक को प्राप्त होता है। कड़वी वेदना, हानि, अंग का भंग होना, भारी बीमारी, (या) चित्त-विक्षेप (= पागल) को प्राप्त होता है। या राजा से दण्ड को (प्राप्त होता है), दारुण निन्दा, जाति बन्धुओं का विनाश, भोगों का क्षय; अथवा उसके घर को अग्नि = पावक जलाता है; काया छोड़ने पर वह दुर्बुद्धि नर्क में उत्पन्न होता है।

जेतवन बहुभत्तिक (भिक्षु)

१४१—न नग्गचरिया न जटा न पङ्का
नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥ १३ ॥

(न नग्नचर्या न जटा न पंकं
नाऽनशनं स्थण्डिलशायिका वा।
रजोजलियं उत्कुटिकप्रधानं
शोधयन्ति मर्त्यं अवितीर्णकांक्षम् ॥ १३ ॥)

जिस पुरुष की आकांक्षायें समाप्त नहीं हो गईं, उस मनुष्य की शुद्धि, न नंगे रहने से न जटा से, न पंक (लपेटने) से, न फाका (= उपवास) करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से, और न उकड़ूँ बैठने से होती है।

जेतवन सन्तति (महामात्य)

१४२—अलङ्कतो चेपि समं चरेय्य
सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू ॥ १४ ॥

(अलंकृतश्चेदपि शमं चरेत्
शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सर्वेषु भूतेषु निधाय दडं
स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः ॥१४॥)

अलंकृत रहते भी यदि वह शान्त, दान्त, नियम तत्पर, ब्रह्मचारी, तथा सारे प्राणियों के प्रति दंडत्यागी है, तो वही ब्राह्मण है, वही श्रमण (= संन्यासी) वही भिक्षु है।

जेतवन　पिलेतिक (थेर)

१४३—हिरीनिसेधो पुरिसो कोचि लोकस्मिं विज्जति।
यो निन्दं अप्पबोधति अस्सो भद्रो कसामिव ॥ १५ ॥

(ह्रीनिषेधः पुरुषः कश्चित् लोके विद्यते।
यो निन्दां न प्रबुध्यति अश्वो भद्रः कशामिव ॥ १५ ॥)

लोक में कोई पुरुष होते हैं, जो (अपने ही) लज्जा करके निषिद्ध (कर्म) को नहीं करते, जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े को नहीं सह सकता, वैसे ही वह निन्दा को नहीं सह सकते।

१४४—अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो
आतापिनो संवेगिनो भवाथ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च
समाधिना धम्मविनिच्छयेन च।
सम्पन्नविज्जाचरणा पतिस्सता
पहस्सथा दुक्खमिदं अनप्पकं ॥ १६ ॥

(अश्वो यथा भद्रः कशानिविष्ट
आतापिनः संवेगिनो भवत।
श्रद्धया शीलेन च वीर्येण च
समाधिना धर्मविनिश्चयेन च।

सम्पन्नविद्याचरणाः प्रतिस्मृताः
प्रहास्यथ दुःखमिदं अनल्पकम् ॥१६॥)

कोड़े पड़े उत्तम घोड़े की भाँति, उद्योगी, ग्लानियुक्त, (वेगवान्) हो; श्रद्धा, आचार, वीर्य, समाधि, और धर्म निश्चय से युक्त (बन) विद्या और आचरण से समन्वित हो, स्मृतिवान हो इस महान् दुःख (-राशि) को पार कर सकते हो ।

१४५—उदकं हि नयन्ति नेत्तिका
उसुकारा नमयन्ति तेजनं ।
दारुं नमयन्ति तच्छका
अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥ १७ ॥

(उदकं हि नयन्ति नेतृकाः, इषुकारा नमयन्ति तेजनम् ।
दारुं नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति सुव्रताः ॥१७॥)

नहरवाले पानी ले जाते हैं, वाण बनानेवाले वाण को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं, सुन्दर व्रतवाले अपने को दमन करते हैं ।

११—जरावग्गो

जेतवन | विसाखाकी संगीनी

१४६—कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ ॥ १ ॥

(को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति ।
अन्धकारेणावनद्धाः प्रदीपं न गवेषयथ ॥ १ ॥)

जब (सभी) नित्य जल रहा है तो हंसी कैसी, आनन्द कैसा !! अंधकार से घिरे तुम प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते ?

राजगृह (वेणुवन) | सिरिमा

१४७—पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं ।
आतुरं बहुसंकप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति ॥ २ ॥

(पश्य चित्रीकृतं बिम्बं अरु-कायं समुच्छ्रितम् ।
आतुरं बहुसंकल्पं यस्य नास्ति ध्रुवं स्थितिः ॥ २ ॥)

इस चित्रित छाया को देखो' जो व्रणों से पूर्ण, फूला, व्याकुल तथा अनेक संकल्पों से युक्त है—जिसकी स्थिति अनित्य है ।

जेतवन | उत्तरी (थेरी)

१४८—परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं ।
भिज्जती पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितं ॥ ३ ॥ ।

(परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम् ।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितम् ॥ ३ ॥)

यह रूप जीर्ण-शीर्ण होने वाला है, रोगों का घर है, अत्यन्त भंगुर है। यह गंदा शरीर छूट जाता है। जीना का अन्त मरण में होता है।

जेतवन — अधिमान (भिक्खु)

१४९—यानि'मानि अपत्थानि अलाबूनेव सारदे।
कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान का रति ॥ ४ ॥

(यानिमान्यपथ्यान्यलाबूनीव शरदि ।
कापोतकान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वा का रतिः ॥ ४ ॥)

शरद कालकी अपथ्य लौकी की भांति (फेंक दी गई) या कबूतर की सी (सफेद हो गई) हड्डियों को देखकर किसको इस (शरीर में) प्रेम होगा ?

जेतवन — रूपनन्दा (थेरी)

१५०—अट्ठीनं नगरं कतं मंसलोहितलेपनं।
यत्थ जरा च मच्चू च मानो मक्खो च ओहितो ॥ ५ ॥

(अस्थ्नां नगरं कृतं मंसलोहितलेपनम् ।
यत्र जरा च मृत्युश्च मानो म्रक्षश्चावहितः ॥ ५ ॥)

हड्डियों का ढाचा (नगर) बना है है, जिस पर मांस और लहू का लेप चढ़ा है, जिसमें जरा, मृत्यु, अभिमान और द्वेष छिपे हैं।

जेतवन — मल्लिका देवी

१५१—जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता
अथो सरीरम्पि जरं उपेति।

सतं च धम्मो न जरं उपेति
सन्तो ह वे सब्भि पवेदयन्ति ॥ ६ ॥

(जीर्यन्ति वै राजरथाः सुचित्रा अथ शरीरमपि जरामुपेति ।
सतां च धर्मो न जरामुपेति सन्तो ह्वे सद्भयः प्रवेदयन्ति ॥६॥)

राजा के *सुचित्रित* (रथ) पुराने हो जाते हैं, तथा यह शरीर भी पुराना हो जाता है । किन्तु सन्तों का धर्म पुराना नहीं होता । सन्त लोग सन्तों से ऐसा ही कहते हैं ।

जेतवन (लाल) उदायी (थेर)

१५२—अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दो' व जीरति ।
मंसानि तस्स बड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न बड्ढति ॥७॥

(अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो बलीवर्द इव जीर्यति ।
मांसानि तस्य बर्द्धन्ते प्रज्ञा तस्य न बर्द्धते ॥ ७ ॥)

यह अल्पश्रुत मनुष्य बैल की तरह बढ़ता है । उसके मांस तो बढ़ते हैं किन्तु उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ती ।

१५३—अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥ ८ ॥

(अनेकजातिसंसारं समाधाविषं अनिर्विशमानः ।
गृहकारकं गवेषयन्, दुःखा जातिः पुनः पुनः ॥ ८ ॥

१५४—गहकारक ! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं ।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥ ९ ॥

(गृहकारक, दृष्टोऽसि पुनर्गेहं न करिष्यसि ।
सर्वास्ते पार्शिवका भग्ना गृहकूटं विसंस्कृतम् ।
विसंस्कारगतं चित्तं तृष्णानां क्षयमध्यगात् ॥ ६ ॥)

अनेक जन्मों तक मैं संसार में लगातार भटकता रहा—*गृह निर्माण करने वाले की* खोज में । वार वार का जन्म दुखमय हुआ ।

हे *गृह के निर्माण करने वाले !* मैंने तुम्हें देख लिया, तुम फिर घर नहीं बना सकते । तुम्हारी *कड़ियाँ* सब टूट गईं, *गृह का शिखर* गिर गया । चित्त *संस्कार* रहित हो गया । तृष्णाओं का क्षय हो गया ।

वाराणसी (ऋषिपतन) महाधनी सेठका पुत्र

१५५—अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
जिण्णकोंचा'व झायन्ति खीणमच्छे'व पल्लले ॥ १० ॥

(अचरित्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
जीर्णक्रौंचा इव ध्यायन्ते क्षीणमत्स्य इव पल्वले ॥१०॥)

ब्रह्मचर्य्य का बिना आचरण किये, यौवन काल में बिना धन उपार्जन किये, मनुष्य—जिसमें मछलियाँ खतम हो गई हैं ऐसे जलाशय में बैठे बूढ़े क्रौंच पक्षी की तरह—(वृद्धावस्था में) चिंता को प्राप्त होता है ।

१५६—अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बणे धनं ।
सेन्ति चापातिखीणा'व पुराणानि अनुत्थुनं ॥ ११ ॥

(अचरित्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
शेरते चापोऽतिक्षीण इव पुराणान्यनुतन्वन्तः ॥ ११ ॥)

ब्रह्मचर्य्य का विना आचरण किये, या यौवन काल में विना धन उपार्जन किये, मनुष्य (वृद्धावस्था में)— पुराने धनुष की तरह—अपनी अतीत बातों की ही चर्चा करता रहता है ।

१२—अत्तवग्गो

सुंसुमारगिरि (भेसकलावन) बोधि राजकुमार

१५७—अत्तानं चे पियं जञ्ञा रक्खेय्य तं सुरक्खितं ।
तिण्णमञ्ञतरं यामं पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥ १ ॥

(आत्मानं चेत् प्रियं जानीयाद् रक्षेत्तं सुरक्षितम् ।
त्रयाणामन्यतमं यामं प्रतिजागृयात् पण्डितः ॥ १ ॥)

अपने को यदि प्रिय समझे तो अपने को *सुरक्षित* (संयत) रक्खे । पंडित तीनों में से किसी एक पहर में अवश्य जागरण करे ।

जेतवन (शाक्यपुत्र) उपनन्द (थेर)

१५८—अत्तानं एव पठमं पटिरूपे निवेसये ।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो ॥ २ ॥

(आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत् ।
अथान्यमनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डितः ॥ २ ॥)

पहिले अपने स्वयं को ही उचित मार्ग में लगावे, बाद में दूसरे को उपदेश दे । इस तरह पंडित क्लेश को न प्राप्त हो ।

जेतवन (अभ्यास) तिस्स (थेर)

१५९—अत्तानञ्चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति ।
सुदन्तो वत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ॥ ३ ॥

(आत्मानं चेत् तथा कुर्याद् यथाऽन्यमनुशास्ति ।
सुदान्तो वत दमयेद्, आत्मा हि किल दुर्दमः ॥ ३ ॥)

अपने को वैसा बनावे, जैसा दूसरे को अनुशासन करना है। (पहिले) अपने को भली प्रकार दमन करे; वस्तुतः अपने को दमन करना (ही) कठिन है।

जेतवन कुमार कस्सपकी माता (थेरी)

१६०—अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तनाव'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥ ४ ॥

(आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात् ।
आत्मनैव सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥ ४ ॥)

मनुष्य अपना स्वामी आप है, भला कोई दूसरा उसका स्वामी क्या होगा। अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामित्व का लाभ करता है।*

जेतवन महाकाल (उपासक)

१६१—अत्तना'व कतं पापं अत्तजं अत्तसम्भवं।
अभिमन्थति दुम्मेधं वजिरं 'व'स्ममयं मणिं ॥ ५ ॥

(आत्मनैव कृतं पापं आत्मजं आत्मसम्भवम् ।
अभिमथ्नाति दुर्मेधसं वज्रमिवाश्ममयं मणिम् ॥ ५ ॥)

अपना किया पाप अपने ही से होकर अपने ही उसे दुर्बुद्धि मनुष्य को पीड़ित करता है। पत्थर से उत्पन्न हीरा पत्थर की ही मणि को काटता है।

जेतवन देवदत्त

१६२—यस्सच्चन्तदुसील्यं मालुवा सालमिवोततं ।
करोति सो तथत्तानं यथा'नं इच्छति दिसो ॥ ६ ॥

**(यस्याऽत्यन्तदौःशील्यं मालुवा शालमिवाततम् ।
करोति स तथात्मानं यथैनमिच्छति द्विटः ॥ ६ ॥)**

मालुवा लता से वेष्ठित शाल (वृक्ष) की भाँति जिसका दुराचार फैला हुआ है; वह अपने को वैसा ही कर लेता है, जैसा कि उसके शत्रु चाहते हैं ।

राजगृह (वेणुवन) संघ में फूट के समय

१६३—सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च ।
यं वे हितञ्च साधुञ्च तं वे परमदुक्करं ॥ ७ ॥

**(सुकराण्यसाधुन्यात्मनोऽहितानि च ।
यद् वै हितं च साधु च तद् वै परमदुष्करम् ॥ ७ ॥)**

बुरी बातों का करना बड़ा आसान है जिनसे अपना ही अहित होता है । उसे करना बड़ा दुष्कर है जो अच्छा और हितकर है ।

जेतवन काल (थेर)

१६४—यो सासनं अरहतं अरियानं धम्मजीविनं ।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं ।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय फलति ॥ ८ ॥

**(यः शासनमर्हतां आर्याणां धर्मजीविनाम् ।
प्रतिक्रुश्यति दुर्मेधा दृष्टिं निःश्रित्य पापिकाम् ।
फलानि काष्ठकस्येवात्महत्यायै फलयति ॥ ८ ॥)**

जो धर्मात्मा श्रेष्ठ अर्हतों के धर्म की—अपनी पाप मयी *मिथ्या धारणा* के कारण—निन्दा करता है वह अपनी ही बर्बादी करता है, जैसे बाँस का फूल बाँस को ही नष्ट कर देता है।

जेतवन (चूल) काल (उपासक)

१६५—अत्तना'व कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं अत्तना'व विसुज्झति॥
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं नाञ्ञमञ्ञं विसोधये॥ ९॥

(आत्मनैव कृतं पापं आत्मना संक्लिश्यति।
आत्मनाऽकृतं पापं आत्मनैव विशुध्यति।
शुद्ध्यशुद्धी प्रत्यात्मं नाऽन्योऽन्यं विशोधयेत्॥९॥)

अपना किया पाप अपने को मैला करता है। अपना न किया पाप अपने को शुद्ध करता है। शुद्धि और अशुद्धि अपने ही से होती है। कोई किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।

जेतवन अत्तदत्थ (थेर)

१६६—अत्तदत्थं परत्थेन बहुनाऽपि न हापये।
अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया॥ १०॥

(आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनाऽपि न हापयेत्।
आत्मनोऽर्थमभिज्ञाय सदर्थप्रसितः स्यात्॥ १०॥)

पराये के बहुत हित के लिये भी अपने हित की हानि न करे। अपने अर्थ की बात को समझ सदर्थ के साधन में लग जाय।

१३—लोकवग्गो

जेतवन — कोई अल्पवयस्क भिक्षु

१६७—हीनं धम्मं न सेवेय्य, पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं न सेवेय्य न सिया लोक-वड्ढनो ॥ १ ॥

(हीनं धर्मं न सेवेत, प्रमादेन न संवसेत्।
मिथ्यादृष्टिं न सेवेत, न स्यात् लोकवर्द्धनः ॥ १ ॥)

नीच धर्म का सेवन न करे, प्रमाद से न रहे, *मिथ्या धारणा* **में न पड़े, आवागमन का चक्र न बढ़ावे।**

कपिलवस्तु (न्यग्रोधाराम) — सुद्धोदन

१६८—उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥ २ ॥

(उत्तिष्ठेत् न प्रमाद्येद् धर्मं सुचरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेतेऽस्मिं लोके परत्र च ॥ २ ॥)

उठे, प्रमाद न करे, सदाचार के धर्म का आचरण करे। धार्मिक पुरुष इस लोक और परलोक दोनो जगह सुख पूर्वक रहता है।

१६९—धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च ॥ ३ ॥

(धर्मं चरेत् सुचरितं न तं दुश्चरितं चरेत् ।
धर्मचारी सुखं शेतेऽस्मिन् लोके परत्र च ॥ ३ ॥)

धर्म का सदाचरण करे, दुराचरण न करे। धर्माचरण करने वाला इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख पूर्वक रहता है।

जेतवन पाँच सौ ज्ञानी (भिक्षु)

१७०–यथा बुब्बूलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं ।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥ ४ ॥

(यथा बुद्बुदकं पश्येद् यथा पश्येत् मरीचिकाम् ।
एवं लोकमवेक्षमाणं मृत्युराजो न पश्यति ॥४॥)

जो इस लोक को बुलबुले की तरह या मरीचिका की तरह देखे उसे यमराज नहीं देखता।

राजगृह (वेणुवन) अभय राजकुमार

१७१–एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं ।
यत्थ बाला विसीदन्ति, नत्थि सङ्गो विजानतं ॥ ५ ॥

(एत पश्यतेमं लोकं चित्रं राजरथोपमम् ।
यत्र बाला विषीदन्ति नास्ति संगो विजानताम् ॥५॥)

आवो, राज-रथ के समान भड़कीले इस लोक को देखो, जिसमें मूर्ख फंस जाते हैं, किंतु ज्ञानी पुरुषों को आसक्ति नहीं होती।

जेतवन सम्मुञ्जानि (थेर)

१७२–यो च पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो नप्पमज्जति ।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो' व चन्दिमा ॥ ६ ॥

(यश्च पूर्वं प्रमाद्य पश्चात् स न प्रमाद्यति ।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमा ॥ ६ ॥)

जो पहिले प्रमाद करके पीछे प्रमाद नहीं करता वह इस लोक में मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति प्रकाशित होता है ।

जेतवन — अंगुलिमाल (थेर)

१७३—यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिधिय्यति ।
सो'मं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥ ७ ॥

(यस्य पापं कृतं कर्म कुशलेन पिधीयते ।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमा ॥ ७ ॥)

जिसका किया पाप उसके पुण्य कर्मों से ढक जाता है वह इस लोक में मेघ से मुक्त चन्द्रमा की तरह प्रकाशित होता है ।

आलवी — रंगरेजकी कन्या

१७४—अन्धभूतो अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति ।
सकुन्तो जालमुत्तो'व अप्पो सग्गाय गच्छति ॥ ८ ॥

(अन्धभूतोऽयं लोकः, तनुकोऽत्र विपश्यति ।
शकुन्तो जालमुक्त इवाल्पः स्वर्गाय गच्छति ॥ ८ ॥)

यह संसार अंधा जैसा है, उसे दिखाई कम पड़ती है । ऐसे लोग अत्यन्त अल्प हैं जो जाल से मुक्त पत्ती की तरह स्वर्ग को जाते हैं ।

जेतवन — तीस भिक्खु

१७५—हंसादिच्चपथे यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया ।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिनिं ॥ ९ ॥

(हंसा आदित्यपथे यन्ति, आकाशे यन्ति ऋद्धिया ।
नीयन्ते धीरा लोकात् जित्वा मारं सवाहिनीकम् ॥९॥)

हंस सूर्य-पथ (आकाश) में उड़ते हैं, ऋद्धि से योगी भी आकाश में गमन करते हैं। अपनी सेना सहित मार को जीत पंडित लोग संसार से छूट जाते हैं।

जेतवन चिंचा (माणविका)

१७६–एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो ।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ॥ १० ॥

(एकं धर्ममतीतस्य मृषावादिनो जन्तोः ।
विस्तीर्णपरलोकस्य नास्ति पापमकार्यम् ॥ १० ॥)

एक धर्म (सत्य) का अतिक्रमण कर जो झूठ बोलता है उस परलोक के चिंतन से रहित पुरुष के लिये कोई पाप ऐसा नहीं रह जाता जो वह न कर सके ।

जेतवन (अयुक्त दान)

१७७–न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति
बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं ।
धीरो च दानं अनुमोदमानो
तेनेव सो होति सुखी परत्थ ॥ ११ ॥

(न वै कदर्या देवलोकं व्रजंति
बाला ह वै न प्रशंसंति दानम् ।
धीरश्च दानं अनुमोदमानस्तेनैव
स भवति सुखी परत्र ॥ ११ ॥)

कंजूस देवलोक नहीं जाते, मूढ़ दानकी प्रशंसा नहीं करते; धीर दानका अनुमोदन कर, उसी (कर्म) से पर (लोक) में सुखी होताहै।

जेतवन अनाथपिण्डकके पुत्रका मरण

१७८—पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं॥ १२॥

(पृथिव्या एकराज्यात् स्वर्गस्य गमनाद् वा।
सर्वलोकाऽऽधिपत्याद् वा स्रोतापत्तिफलं वरम्॥१२॥)

पृथ्वी के एक राज्य से, अथवा स्वर्ग गमन करने से, अथवा सारे लोक का स्वामी हो जाने से भी श्रेष्ठ *स्रोतापत्ति फल* की प्राप्ति है।

१४--बुद्धवग्गो

उरुवेला (बोधिमंड) मागन्दिय (ब्राह्मण)

१७९—यस्स जितं नावजीयति
जितमस्स नो याति कोचि लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥ १ ॥

(यस्य जितं नावजीयते
जितमस्य न याति कश्चिल्लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेष्यथ ? ॥ १ ॥)

जिसका जीता बेजीता नहीं किया जा सकता, जिसकी विजय को संसार का कोई भी बराबरी नहीं कर सकता, उस अनन्त ज्ञानी वीततृष्ण-बुद्ध को किस तरह बहका सकते हो ?

१८०—यस्स जालिनी विसत्तिका
तण्हा नत्थि कुहिञ्चि नेतवे ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥ २ ॥

(यस्य जालिनी विषात्मिका तृष्णा
नास्ति कुत्रचित् नेतुम् ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेष्यथ ? ॥ २ ॥)

जिसे बन्धन मे डालने वाली विष रूपी तृष्णा कहीं भी ले नहीं जा सकती उस अनन्त ज्ञानी वीततृष्ण बुद्ध को किस तरह बहका सकते हो ?

संकाश्य नगर देव, मनुष्य

१८१—ये झाणपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे रता।
देवापि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं ॥ ३ ॥

(ये ध्यानप्रसिता धीरा नैष्कम्योपशमे रताः ।
देवा अपि तेषां स्पृहयन्ति संबुद्धानां स्मृतिमताम् ॥३॥)

जो धीर ध्यान में लगे, परम शान्त निर्वाण में रत हैं उन स्मृतिमान बुद्धों की स्पृहा देवता लोग भी करते हैं।

वाराणसी एरकपत्त (नागराज)

१८२—किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो ॥ ४ ॥

(कृच्छ्रो मनुष्यप्रतिलाभः कृच्छ्रं मर्त्यानां जीवितम् ।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं कृच्छ्रो बुद्धानां उत्पादः ॥ ४ ॥)

मनुष्य योनि में जन्म लेना कठिन है, (जन्म लेकर भी) जीवित रहना कठिन है, (जीवित रहकर भी) सद्धर्म का श्रवण करना कठिन है, और बुद्धों का जन्म ग्रहण करना (और भी) कठिन है।

जेतवन आनन्द (थेर) का प्रश्न

१८३—सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स-चित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान 'सासनं ॥ ५ ॥

(सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा ।
स्वचित्तपर्यवदापनं एतद् बुद्धानां शासनम् ॥ ५ ॥)

सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना, यह है बुद्धों की शिक्षा।

जेतवन आनन्द (थेर)

१८४—खन्ती परमं तपो तितिक्खा,
निब्बाणं परमं वदन्ति बुद्धा।
नहि पब्बजितो परूपघाती,
समणो होति परं विहेठयन्तो ॥ ६ ॥

**(क्षान्तिः परमं तपः तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः।
नहि प्रव्रजितः परोपघाती श्रमणो भवति परं विहेठयन् ॥६॥)**

सहन शीलता और क्षमा-शीलता परम तप है, बुद्ध लोग निर्वाण को परम पद बताते हैं। दूसरों की हिंसा करने वाला और सताने वाला प्रब्रजित सच्चा साधु नहीं होता।

१८५—अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं ॥ ७ ॥

**(अनुपवादोऽनुपघातः प्रातिमोक्षे च संवरः।
मात्राज्ञता च भक्ते प्रान्तं च शयनासनम्।
अधिचित्ते चायोग एतद् बुद्धानां शासनम् ॥ ७ ॥)**

निन्दा न करना, घात न करना, *प्रातिमोक्ष* के नियमों का पालन करना, *भोजन में परिमाण को जानना*, एकान्तवास, चित्त की शुद्धि में योग—यही है बुद्धों की शिक्षा।

जेतवन (उदास भिक्षु)

१८६—न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय पण्डितो ॥ ८ ॥

(न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते।
अल्पास्वादा दुःखाःकामा इति विज्ञाय पण्डितः ॥८॥)

१८७—अपि दिब्बेसु कामेसु रति सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो होति सम्मासम्बुद्धसावको ॥ ९ ॥

(अपि दिव्येषु कामेषु रतिं स नाऽधिगच्छति।
तृष्णाक्षयरतो भवति सम्यकसंबुद्धश्रावकः ॥ ९ ॥)

यदि रुपयों (=कहापण) की वर्षा हो, तो भी (मनुष्य की) कामों (=भोगों) से तृप्ति नहीं हो सकती। (सभी) काम (=भोग) अल्प-स्वाद, (और) दुःखद हैं, ऐसा जानकर पंडित देवताओंके भोगोंमें भी रति नहीं करता; और सम्यक्संबुद्ध (=बुद्ध) का श्रावक (=अनुयायी) तृष्णाको नाश करनेमें लगता है।

जेतवन अग्गिदत्त (ब्राह्मण)

१८८—बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि बनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥ १० ॥

(बहु वै शरणं यान्ति पर्वतान् वनानि च।
आरामवृक्षचैत्त्यानि मनुष्या भयतर्जिताः ॥ १० ॥)

१८९—नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ ११ ॥

(नैतत् खलु शरणं क्षेमं नैतत् शरणमुत्तमम् ।
नैतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात्प्रमुच्यते ॥११॥)

मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, आराम (= उद्यान), वृक्ष, चैत्य (= चौरा) आदिको देवता मान उनकी शरण में जाते हैं; किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं; (क्योंकि) इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता।

जेतवन　　अग्गिदत्त (ब्राह्मण)

१९०—यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो ।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥ १२ ॥

(यश्च बुद्धं च धर्मं च संघं च शरणं गतः ।
चत्वार्यार्यसत्यानि सम्यक् प्रज्ञया पश्यति ॥ १२ ॥)

१९१—दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥ १३ ॥

(दुःखं दुःखसमुत्पादं दुःखस्य चातिक्रमम् ।
आर्याष्टांगिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम् ॥ १३ ॥)

१९२—एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ १४ ॥

(एतत् खलु शरणं क्षेमं एतत् शरणमुत्तमम् ।
एतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥१४॥)

जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया, जिसने चार *आर्य सत्यों* को —दुख, दुखकी उत्पत्ति, दुःख से मुक्ति, और मुक्तिगामी *आर्य्य आंष्टगिक*

मार्ग—सम्यक प्रज्ञा से देख लिया है, यही रक्षादायक शरण है, उत्तम शरण है। इसी शरण को प्राप्त कर वह सभी दुखों से मुक्त हो जाता है।

जेतवन आनन्द (थेर) का प्रश्न

१९३—दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति।
यत्थ सो जायती धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥ १५ ॥

**(दुर्लभः पुरुषाजानेयो न स सर्वत्र जायते।
यत्र स जायते धीरः तत् कुलं सुखमेधते ॥ १५ ॥)**

उत्तम पुरुष दुर्लभ है, वह सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता, वह धीर (पुरुष) जहाँ उत्पन्न होता है, उस कुलमें सुखकी वृद्धि होती है।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

१९४—सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो ॥ १६ ॥

**(सुखो बुद्धानां उत्पादः सुखा सद्धर्म-देशना।
सुखा संघस्य सामग्री समग्राणां तपः सुखम् ॥ १६ ॥)**

सुखदायक है बुद्धोंका जन्म, सुखदायक है सच्चे धर्मका उपदेश, संघमें एकता सुखदायक है; और सुखदायक है एकतायुक्त हो तप करना।

चारिकाके समय कस्सप बुद्धका सुवर्ण चैत्य

१९५—पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥ १७ ॥

**(पूजार्हान् पूजयतो बुद्धान् यदि वा श्रावकान्।
प्रपंचसमतिक्रान्तान् तीर्णशोकपरिद्रवान् ॥ ॥ १७ ॥)**

१९६–ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तम्पि केनचि ॥ १८ ॥

**(तान् तादृशान् पूजयतो निर्वृतान् अकुतोभयान्।
न शक्यं पुण्यं संख्यातुं एवम्मात्रमपि केनचित् ॥ १८ ॥)**

पूजनीय बुद्धों, अथवा (उनके) अनुगामियों—जो संसार को अतिक्रमणकर गये हैं, जो शोक भयको पारकर गये हैं—की पूजाके, (या) उन ऐसे मुक्त और निर्भय (पुरुषों) की पूजाके, पुण्यका परिमाण "इतना है"—यह नहीं कहा जा सकता।

११—सुखवग्गो

शक्य नगर　　　　　　　　　　　　　　　　　जातिकलहके उपशमनार्थं

१९७—सुसुखं वत ! जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो ।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥ १ ॥

(सुसुखं वत ! जीवामो वैरिष्ववैरिणः ।
वैरिषु मनुष्येषु विहरामोऽवैरिणः ॥ १)

१९८—सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेसु अनातुरा ।
आतुरेसु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥ २ ॥

(सुसुखं वत ! जीवाम आतुरेष्वनातुराः ।
आतुरेषु मनुष्येषु विहरामोऽनातुराः ॥ २ ॥)

१९९—सुसुखं वत ! जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका ।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ॥ ३ ॥

(सुसुखं वत ! जीवाम उत्सुकेष्वनुत्सुकाः ।
उत्सुकेषु मनुष्येषु विहराम अनुत्सुकाः ॥ ३ ॥)

वैरियोंके प्रति (भी) अवैरी हो, अहो ! हम (कैसा) सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; वैरी मनुष्योंके बीच अवैरी होकर हम विहार करते हैं । भयभीत मनुष्योंमें अभय हो, अहो ! हम सुखपूर्वक जीवन बिता रहे हैं; भयभीत मनुष्यों के बीच निर्भय होकर हम विहार करते हैं । उत्सुकों (= आसक्तों) में उत्सुकता-रहित हो० ।

पंचसाला (ब्राह्मणग्राम, मगध) मार

२००–सुसुखं वत ! जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चनं ।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा ॥ ४ ॥

(सुसुखं वत ! जीवामो येषां नो नास्ति किंचन ।
प्रीतिभक्ष्या भविष्यामो देवा आभास्वरा यथा ॥ ४ ॥)

जिन हम (लोगों) के पास कुछ नहीं, अहो ! वह हम कितना सुखसे जीवन बिता रहे हैं। हम *आभास्वर* देवताओं की भाँति *प्रीतिभक्ष्य* (= प्रीति ही भोजन है जिनका) हैं।

जेतवन कोसलराज

२०१–जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो ।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं ॥ ५ ॥

(जयो वैरं प्रसूते दुःखं शेते पराजितः ।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयौ ॥ ५ ॥)

विजय वैरको उत्पन्न करती है, पराजित (पुरुष) दुःखकी (नींद) सोता है; (राग आदि दोष जिसके) शान्त (हैं, वह पुरुष) जय और पराजयको छोड़ सुखकी (नींद) सोता है।

जेतवन कोई कुलकन्या

२०२–नत्थि रागसमो अग्गि, नत्थि दोससमो कलि ।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥ ६ ॥

(नास्ति रागसमोऽग्निः, नास्ति द्वेषसमः कलिः ।
नास्ति स्कन्धसमा दुःखाः, नास्ति शान्तिपरं सुखम् ॥६॥)

रागके समान अग्नि नहीं, द्वेषके समान मल नहीं, (पाँच)स्कन्धों*के (= समुदाय) समान दुःख नहीं, शान्तिसे बढ़कर सुख नहीं।

आलवी एक उपासक

२०३—जिघच्छा परमा रोगा, सङ्खारा परमा दुखा।
एवं ञत्वा यथाभूतं निब्बाणं परमं सुखं ॥ ७ ॥

(जिघत्सा परमो रोगः, संस्कारः परमं दुःखम्।
एतद् ज्ञात्वा यथाभूतं निर्वाणं परमं सुखम् ॥ ७ ॥)

भूख सबसे बड़ा रोग है, *संस्कार* सबसे बड़े दुःख हैं, यह जान, यथार्थ निर्वाणको सबसे बड़ा सुख (कहा जाता है)।

जेतवन पसेनदि कोसलराज

२०४—आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं ॥ ८ ॥

(आरोग्यं परमो लाभः, सन्तुष्टिः परमं धनम्।
विश्वासः परमा ज्ञातिः, निर्वाणं परमं सुखम् ॥ ८ ॥)

निरोग होना परम लाभ है, सन्तोष परम धन है, विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है, निर्वाण परम (= सबसे बड़ा) सुख है।

---

*रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान यह पाँच स्कन्ध हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार विज्ञानके अन्दर हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु ही रूप स्कंध है। जिसमें न भारीपन है, और जो न जगह घेरता है, वह विज्ञान स्कंध है। रूप (= Matter) और विज्ञान (= Mind) इन्हींके मेलसे सारा संसार बना है।

वैशाली तिस्स (थेर)

२०५—पविवेकरसं पीत्त्वा रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं ॥ ९ ॥

(**प्रविवेकरसं पीत्वा रसं उपशमस्य च।**
निर्दरो भवति निष्पापो धर्मप्रीतिरसं पिवन् ॥ ९ ॥)

एकान्त (चिन्तन) के रस, तथा *उपशम* (= शान्ति) के रसको पीकर (पुरुष), निडर होता है, (और) धर्मका प्रेमरस पानकर निष्पाप होता है।

वेलुयग्राम (वेणुग्राम, वैशाली के पास) तक्क (देवराज)

२०६—साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥१०॥

(**साधु दर्शनमार्याणां सन्निवासः सदा सुखः।**
अदर्शनेन बालानां निच्चयमेव सुखी स्यात् ॥१०॥)

२०७—बालसंगतिचारी हि दीघमद्धानं सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं 'व समागमो ॥११॥

(**बालसंगतिचारी हि दीर्घमध्वानं शोचति।**
दुःखो बालैः संवासोऽमित्रेणेव सर्वदा।
धीरश्च सुखसंवासो ज्ञातीनामिव समागमः ॥११॥)

आर्यों (= सत्पुरुषों) का दर्शन सुन्दर है, सन्तों के साथ निवास सदा सुखदायक होता है; मूढ़ों के न दर्शन होने से (मनुष्य) सदा सुखी

रहता है। मूढ़ों की संगतिमें रहनेवाला दीर्घ काल तक शोक करता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु की तरह सदा दुःखदायक होता है। बन्धुओं के समागम की भाँति धीरों का सहवास सुखद होता है।

बेलुवगाम सक्क (देवराज)

२०८—तस्मा हि धीरं च पञ्ञञ्च बहु-स्सुतं च
धोरय्हसीलं वतवन्तमरियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं
भजेथ नक्खत्तपथं 'व चन्दिमा ॥१२॥

(तस्माद्धि धीरञ्च प्राज्ञञ्च बहुश्रुतञ्च
धौरेयशीलं व्रतवन्तमार्यम्।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुमेधं
भजेत नक्षत्रपथं इव चन्द्रमा ॥ १२ ॥

इसलिये वैसे धीर, ज्ञानी, बहुश्रुत, शीलवान्, व्रतसम्पन्न, सत्पुरुष, तथा बुद्धिमान पुरुष का अनुगमन उसी भाँति करे जैसे चन्द्रमा नक्षत्र पथ का।

१६—पियवग्गो

जेतवन　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　तीन भिक्षु

२०९—अयोगे युञ्जमत्तानं योगस्मिञ्च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पियग्गाही पिहेत'त्तानुयोगिनं ॥ १ ॥

(अयोगे युञ्जन् आत्मानं योगे चायोजयन्।
अर्थं हित्वा प्रिय-ग्राही स्पृहयेदात्मानुयोगिनम् ॥ १ ॥)

बुरे कर्म में लगा हुआ, अच्छे कर्म में न लगने वाला, तथा परमार्थ को छोड़ संसार के आकर्षण में लगनेवाला पुरुष उस पुरुष की स्पृहा करे जो आत्मउन्नति में लग्न है।

२१०—मा पियेहि समागच्छि अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानञ्च दस्सनं ॥ २ ॥

(मा प्रियैः समागच्छ, अप्रियैः कदाचन।
प्रियाणां अदर्शनं दुःखं, अप्रियाणां च दर्शनम् ॥२॥)

प्रियों का संग न करे, और न कभी अप्रियों का। प्रियों का न देखना दुःखद है, और अप्रियों का देखना।

२११—तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं ॥ ३ ॥

(तस्मात् प्रियं न कुर्यात्, प्रियापायो हि पापकः ।
ग्रन्थाः तेषां न विद्यन्ते येषां नास्ति प्रियाप्रियम् ॥३॥)

इसलिये प्रिय न बनावे । प्रिय से वियोग बुरा होता है । उन्हें कोई बन्धन नहीं हैं जिन्हें न तो प्रिय है न अप्रिय ।

जेतवन — कोई कुटुम्बी

२१२–पियतो जायते सोको पियतो जायते भयं ।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥४॥

(प्रियतो जायते शोकः प्रियतो जायते भयम् ।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ? ॥४॥)

प्रिय (वस्तु) से शोक उत्पन्न होता है, प्रिय से भय उत्पन्न होता है; प्रिय (के बन्धन) से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं है, फिर भय कहाँ से (हो) ?

जेतवन — विशाखा (उपासिका)

२१३–पेमतो जायते सोको पेमतो जायते भयं ।
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ५ ॥

(प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम् ।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकःकुतो भयम् ? ॥५॥)

प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है, प्रेम से मुक्त को शोक नहीं, फिर भय कहाँ से ?

वैशाली (कूटागारशाला) — लिच्छवि लोग

२१४–रतिया जायते सोको रतिया जायते भयं ।
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ६ ॥

(रत्या जायते शोको रत्या जायते भयम् ।
रत्या विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥६॥)

रति (=राग) से शोक उत्पन्न होता है, रतिसे भय उत्पन्न होता है० ।

जेतवन　　अनित्थिगन्धकुमार

२१५—कामतो जायते सोको कामतो जायते भयं ।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ७ ॥

(कामतो जायते शोकः कामतो जायते भयम् ।
कामतो विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकः कुतो भयम् ? ॥७॥)

काम से शोक उत्पन्न होता है० ।

जेतवन　　कोई ब्राह्मण

२१६—तण्हाय जायते सोको तण्हाय जायते भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ? ॥८॥

(तृष्णाया जायते शोकः तृष्णाया जायते भयम् ।
तृष्णाया विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति शोकः कुतो भयम् ? ॥८॥)

तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है० ।

राजगृह (वेणुवन)　　पाँच सौ बालक

२१७—सीलदस्सनसम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं ॥९॥

(शीलदर्शनसम्पन्नं धर्मिष्ठं सत्यवादिनम् ।
आत्मनः कर्म कुर्वाणं तं जनः कुरुते प्रियम् ॥ ९ ॥)

जो शील (= आचरण) और दर्शन (= विद्या) से सम्पन्न, धर्म में स्थित, सत्यवादी और अपने कामको करनेवाला है, उस (पुरुष) को लोग प्रेम करते हैं।

२१८–छन्दजातो अनक्खाते मनसा च फुटो सिया।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतो 'ति वुच्चति ॥१०॥

(छन्दजातोऽनाख्याते मनसा च स्फुरितः स्यात्।
कामेषु चाऽप्रतिबद्धचित्त ऊर्ध्वस्रोता इत्युच्यते ॥१०॥)

जो अकथ्य (-वस्तु = निर्वाण) का अभिलाषी है, (उसमें) जिसका मन लगा है, कामों (= भोगों) में जिसका चित्त बद्ध नहीं, वह ऊर्ध्व-स्रोत कहा जाता है।

ऋषिपतन नन्दिपुत्त

२१९–चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥११॥

(चिरप्रवासिनं पुरुषं दूरतो स्वस्त्यागतम्।
ज्ञातिमित्राणि सुहृदश्चाऽभिनन्दन्त्यागतम् ॥११॥)

२२०–तथेव कतपुञ्ञम्पि अस्मा लोका परं गतं।
पुञ्ञानि पतिगण्हन्ति पियं ञातीव आगतं ॥१२॥

(तथैव कृतपुण्यमप्यस्मात् लोकात् परं गतम्।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति प्रियं ज्ञातिमिवागतम ॥१२॥)

बहुत दिनों तक विदेश में रहने के बाद दूर से सकुशल घर लौटे पुरुष को जाति-भाई, मित्र और हितैषी स्वागत करते हैं।

वैसे ही इस लोक से परलोक गये पुण्यात्मा पुरुष को उसके पुण्य अपने सम्बन्धी के समान स्वागत करते हैं।

१७--कोधवग्गो

कपिलवस्तु (न्यग्रोधाराम) रोहिणी

२२१–कोधं जहे विप्पजहेय्य मानं
सञ्ञोजनं सब्बमतिक्कमेय्य ।
तं नाम-रूपस्मिं असज्जमानं
अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥१॥

(क्रोधं जह्याद् विप्रजह्यात् मानं
संयोजनं सर्वमतिक्रमेत ।
तं नाम-रूपयोरसज्यमानं
अकिंचनं नाऽनुपतन्ति दुःखानि ॥१॥)

क्रोध को छोड़े, अभिमान का त्याग करे, *सारे संयोजनों* (= बंधनों) से पार हो जाये, ऐसे *नाम-रूपमें* आसक्त न होनेवाले, तथा परिग्रहरहित (पुरुष) को दुःख सन्ताप नहीं देते ।

आलवी (अग्गालव चैत्य) कोई भिक्षु

२२२–यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं 'व धारये ।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥२॥

(यो वै उत्पतितं क्रोधं रथं भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमहं सारथिं ब्रवीमि, रश्मिग्राह इतरो जनः ॥२॥)

जो चढ़ते क्रोध को भटके रथ की तरह रोक लेता है उसी को मैं सच्चा सारथी कहता हूँ—दूसरे तो केवल लगाम पकड़ने वाले हैं।

राजगृह (वेणुवन) उत्तरा (उपासिका)

२२३—अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥३॥

(अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनाऽलीकवादिनम् ॥३॥)

अक्रोध से क्रोध को जीते, असाधु को साधु (=भलाई) से जीते, कृपण को दान से जीते, झूठ बोलनेवाले को सत्य से (जीते)।

जेतवन महामोग्गलान (थेर)

२२४—सच्चं भणे न कुज्झेय्य, दज्जा'प्पस्मिम्पि याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥४॥

(सत्यं भणेत् न क्रुध्येत्, दद्यादल्पऽपि याचितः।
एतैस्त्रिभिः स्थानैः गच्छेद् देवानामन्तिके ॥४॥)

सच बोले, क्रोध न करे, थोड़ा भी माँगने पर दे, इन तीन बातों से (पुरुष) देवताओं के पास जाता है।

साकेत (=अयोध्या) ब्राह्मण

२२५—अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥५॥

(अहिंसका ये मुनयो नित्यं कायेन संवृताः।
ते यन्ति अच्युतं स्थानं यत्र गत्वा न शोचन्ति ॥५॥)

जो मनुष्य हिंसा से रहित, नित्य अपने शरीर में संयत हैं वे उस अच्युत पद को प्राप्त करते हैं जिसे प्राप्त कर वे शोक नहीं करते।

राजगृह (गृध्रकूट) राजगृह-श्रेष्ठी का पुत्र

२२६—सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बाणं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥६॥

(सदा जाग्रतां अहोरात्रं अनुशिक्षमाणानाम्।
निर्वाणं अधिमुक्तानां अस्तं गच्छन्ति आस्रवाः ॥६॥)

उनके *आवश्र* (चित्त-मल) नष्ट हो जाते हैं जो सदा जागरण-शील हो दिन-रात योगाभ्यास में लगे रहते हैं और निर्वाण ही जिनका एक उद्देश्य है।

जेतवन अतुल (उपासक)

२२७—पोराणमेतं अतुल ! नेतं अज्जतनामिव।
निन्दन्ति तुण्हीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं।
मितभाणिनम्पि निन्दन्ति नत्थि लोके अनिन्दितो ॥७॥

(पुण्यमेतद् अतुल ! नैतद् अद्यतनमेव।
निन्दन्ति तूष्णीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनम्।
मितभाणिनमपि निन्दन्ति नाऽस्ति लोकेऽनिन्दितः ॥७॥)

२२८—न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो ॥८॥

(न चाऽभूत् न च भविष्यति न चैतर्हि विद्यते।
एकान्तं निन्दितः पुरुषः एकान्तं वा प्रशंसितः ॥८॥)

हे अतुल! यह पुरानी बात है, आज की नहीं—(लोग) चुप बैठे हुए की निन्दा करते हैं, और बहुत बोलनेवाले की भी, मितभाषी की भी निन्दा करते हैं; दुनियाँ में अनिन्दित कोई नहीं है। बिल्कुल ही निन्दित या बिल्कुल ही प्रशंसित पुरुष न था, न होगा; न आजकल है।

जेतवन अतुल (उपासक)

२२९—यञ्चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्ञासीलसमाहितं ॥ ९ ॥

(यश्चेद् विज्ञाः प्रशंसन्ति अनुविच्य श्वः श्वः।
अच्छिद्रवृत्तिं मेधाविनं प्रज्ञाशीलसमाहितम् ॥ ९ ॥)

२३०—नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति।
देवापि तं पसंसन्ति ब्रह्मुणाऽपि पसंसितो ॥ १० ॥

(निष्कं जम्बूनदस्येव कस्तं निन्दितुमर्हति।
देवा अपि तं प्रशंसन्ति ब्रह्मणाऽपि प्रशंसितः ॥ १० ॥)

जिस निर्दोष आचरण वाले मेधावी प्रज्ञा और शील से युक्त पुरुष की प्रशंसा विज्ञ लोग दिन प्रति दिन समझ समझ कर करते हैं, उस सच्चे सोने जैसे की निन्दा भला कौन कर सकता है। देवता लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं और ब्रम्हदेव भी।

वेणुवन वज्जिय (भिक्षु)

२३१—कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥ ११ ॥

(कायप्रकोपं रक्षेत् कायेन संवृतः स्यात्।
कायदुश्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरेत् ॥ ११ ॥)

२३२—वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया।
वची दुच्चरितं हित्त्वा वाचाय सुचरितं चरे ॥१२॥
(**वचः प्रकोपं रक्षेद् वाचा संवृतः स्यात्।**
वचो दुश्चरितं हित्त्वा वाचा सुचरितं चरेत् ॥१२॥)

२३३—मनोप्पकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्त्वा मनसा सुचरितं चरे ॥१३॥
(**मनः प्रकोपं रक्षेत् मनसा संवृतः स्यात्।**
मनोदुश्चरितं हित्त्वा मनसा सुचरितं चरेत् ॥१३॥)

२३४—कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता ॥१३॥
(**कायेन संवृता धीरा अथ वाचा संवृताः।**
मनसा संवृता धीराः ते वै सुपरिसंवृता ॥१८॥)

शारीरिक दुराचरण से बचे, शरीर से संयत रहे। शारीरिक दुराचार को छोड़, शारीरिक सदाचार का आचरण करे।

वाचसिक दुराचार से बचे०।

मानसिक दुराचार से बचे०।

धीर पुरुष शरीर से संयत, वचन से संयत और मन से संयत रहते हैं। वे ही पूर्ण रूप से संयत हैं।

१८—मलवग्गो

जेतवन — गोघातक-पुत्र

२३५–पाण्डुपलासो' व दानिसि, यमपुरिसापि च तं उपट्ठिता ।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥१॥

**(पाण्डुपलासमिवेदानीमसि यमपुरुषा अपिच त्वामुपस्थिताः ।
उद्योगमुखे च तिष्ठसि पाथेयमपि च ते न विद्यते १॥ ॥)**

२३६–सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि ॥ २ ॥

**(स कुरु द्वीपमात्मनः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव ।
निर्धूतमलोऽनंगणो दिव्यां आर्यभूमिं एष्यसि ॥ २ ॥)**

पीले पत्तेके समानतू इस वक्त तू है, यमदूत तेरे पास आ खड़े हैं, प्रयाणके लिये तय्यारकु है, और *पाथेय* तेरे पास कुछ नहीं है। सो तू अपने लिये *द्वीप* (=रक्षास्थान) बना, उद्योग कर, पंडित बन, मल प्रक्षालित कर, दोषरहित बन *आर्योंके दिव्य पद* को पायेगा।

जेतवन — गोघातक-पुत्र।

२३७–उपनीतवयो च दानिसि सम्पयातोसि यमस्स सन्तिके ।
वासोपि च ते नत्थि अन्तरा पाथेय्यम्पि च ते न विज्जति ॥३

(उपनीतवया इदानीमसि
यमसम्प्रयातोऽसि मस्याऽन्तिके।
वासोऽपि च ते नाऽस्ति अन्तरा
पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥ ३।)

२३८–सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥ ४ ॥

(स कुरु द्वीपमात्मनः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव।
निर्धूतमलोऽनंगणो न पुनर्जातिजरे उपेष्यसि ॥ ४ ॥)

आयु तेरी समाप्त हो गई, यमके पास पहुँच चुका, *निवास* (स्थान) भी तेरा नहीं है, (यात्राके भक्ष्यके लिये तेरे पास *पाथेय* भी नहीं।) सो तू अपने लिये०।

जेतवन कोई ब्राह्मण

२३९–अनुपुब्बेन मेधावी थोकथोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो ॥ ५ ॥

(अनुपूर्वेण मेधावी स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे।
कर्मारो रजतस्येव निर्धमेत् मलमात्मनः ॥ ५ ॥)

सोनार जैसे चाँदी के मैलको क्रमशः क्षण-क्षण थोड़ा-थोड़ा जला कर साफ़ करता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष अपने मल को क्रमशः दूर करे।

जेतवन तिस्स (थेर)

२४०–अयसा' व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादति।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं ॥६॥

(अयस इव मलं समुत्थितं त (स्मा)द्
उत्थाय तदेव खादति।
एवमतिधावनचारिणं स्वानि
कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम् ॥ ६ ॥)

लोहा का मुरचा उससे उत्पन्न होकर उसी को खाता है, वैसे ही सदाचार का उलंघल करने वाले मनुष्य के अपने ही कर्म उसे दुर्गति को प्राप्त कराते हैं।

जेतवन (लाल) उदायी (थेर)

२४१—असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला घरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं ॥ ७ ॥

(अस्वाध्यायमला मन्त्रा अनुत्थानमला गृहाः।
मलं वर्णस्य कौसीद्यं, प्रमादो रक्षतो मलम् ॥ ७ ॥)

पाठ का न करना मंत्र का मैल है, झाड़ बहाड़ न करना घर का मैल है, आलस्य सौन्दर्य का मैल है, असावधानी पहरेदार का मैल है।

रजगृह (वेणुवन) (कोई कुलपुत्र

२४२—मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च ॥ ८ ॥

(मलं स्त्रिया दुश्चरितं मात्सर्यं ददतो मलम्।
मलाद्वै पापका धर्मा अस्मिन् लोके परत्र च ॥८॥)

स्त्री का मैल दुराचार है, दानी का मैल कंजूसी है। पाप इस लोक और परलोक दोनों के मैल हैं।

२४३—ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो ॥९॥

(ततो मलान्मलतरं अविद्या परमं मलम्।
एतत् मलं प्रहाय निर्मला भवत भिक्षवः ॥९॥)

उससे भी अधिक अविद्या परम मैल है। भिक्षुओ! इस मल को
छोड़ निर्मल हो जाव।

जेतवन (चुल्ल) सारी

२४४—सुजीवं अहिरोकेन काकसूरेन धंसिना।
पक्खन्दिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥ १० ॥

(सुजीव्यं अह्रीकेण काकशूरेण ध्वंसिना।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन संक्लिष्टेन जीवितम् ॥१०॥)

लज्जा रहित, कौवे जैसा (स्वार्थ में) शूर, दूसरे का अहित करने
वाले, पतित, बकवादी, पापी मनुष्य का जीवन बड़ा आसान होता है।

जेतवन (चुल्ल) सारी

२४५—हिरीमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेन'प्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥११॥

(ह्रीमता च दुर्जीवितं नित्यं शुचिगवेषिणा।
अलीनेनाऽप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन पश्यता ॥११॥)

उनका जीवन कठिन होता है जो लज्जा शील हैं, पवित्रता के गवेषक
सचेत, मित भाषी, शुद्ध जीविका वाले और ज्ञानी हैं।

जेतन पाँच सौ उपासक

२४६—यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति ।
लोके आदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति ॥१२॥

(यः प्राणमतिपातयति मृषावादं च भाषते ।
लोकेऽदत्तं आदत्ते परादारांश्च गच्छति ॥१२॥)

२४७—सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति ।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो ॥१३॥

(सुरामैरेयपानं च यो नरोऽनुयुनक्ति ।
इहैवमेष लोके मूलं खनत्यात्मनः ॥१३॥)

२४८—एवं भो पुरिस ! जानाहि पापधम्मा असञ्ञता ।
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥१४॥

(एवं भो पुरुष ! जानीहि पापधर्माणोऽसंयतान् ।
मा त्वां लोभोऽधर्मश्च चिरं दुःखाय रंध्येताम् ॥१४॥)

जो जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, परस्त्रीगमन करता है, शराब दारू पीता है वह इस संसार में अपनी ही जड़ खोदता है ।

हे पुरुष ! संयम रहित पाप कर्म ऐसे ही होते हैं, इसे जानो । तुम्हे लोभ ओर अधर्म चिरकाल तक दुख में न डाले रहे ।

जेतवन तिस्स (बालक)

२४९—ददन्ति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो ।
तत्थ यो मंकु भवति परेसं पानभोजने ।
न सो दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥ १५ ॥

(ददाति वै यथाश्रद्धं यथाप्रसादनं जनः।
तत्र यो मूको भवति परेषां पानभोजने।
न स दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥१५॥)

२५०—यस्स च तं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥

(यस्य च तत् समुच्छिन्नं मूलघातं समुद्धतम्।
स वै दिवा रात्रौ वा समाधिं अधिगच्छति ॥१६॥)

लोग अपनी श्रद्धा भक्ति के अनुसार दान देते हैं। दूसरों के खाने पीने को देख जो सह नहीं सकता वह दिन या रात कभी भी एकाग्रता का लाभ नहीं करता।

जिसकी ऐसी मनोवृत्ति उच्छिन्न हो गयी है, समूल नष्ट हो गई है, वही दिन और रात एकाग्रता का लाभ करता है।

जेतवन पाँच उपासक

२५१—नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ॥१७॥

(नास्ति रागसमोऽग्निः नाऽस्ति द्वेषसमो ग्राहः।
नाऽस्ति मोहसमं जालं नाऽस्ति तृष्णा समा नदी ॥१७॥)

रागके समान आग नहीं, द्वेषके समान ग्रह (=भूत, चुड़ैल) नहीं; मोहके समान जाल नहीं, तृष्णा के समान नदी नहीं।

भद्दियनगर (जातियावन) मेण्डक (श्रेष्ठी)

२५२—सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं।
अत्तनो पन छादेति कलिं' व कितवा सठो ॥१८॥

(सुदृश्यं वद्यमन्येषां आत्मनः पुनर्दुर्दृश्यं।
परेषां हि स वद्यानि अवपुनाति यथातुषम्।
आत्मनः पुनः छादयति कलिमिव कितवात् शठः ॥१८॥)

दूसरेका दोष देखना आसान है, किन्तु अपना (दोष) देखना कठिन है। वह (पुरुष) दूसरोंके ही दोषोंको भुस्सेकी भाँति उड़ाता फिरता है, किन्तु अपने (दोषों) को वैसे ही ढाँकता है, जैसे शठ जुआरी से पासे को।

जेतवन उज्झानसञ्ञी (थेर)

२५३—परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा स आसवक्खया ॥१९॥

(परवद्याऽनुदर्शिनो नित्यं उद्ध्यावसंज्ञिनः।
आस्रवास्तस्य वर्द्धन्ते आराद् स आस्रवक्षयात् ॥१९॥)

दूसरों के दोष देखने वाले, तथा सदा दूसरों की टीका टिप्पणी करने वाले के चित्त-मल बढ़ते हैं। चित्तमलों के क्षयसे वह पृथक है।

कुशीनगर सुभद्द (परिव्राजक)

२५४—आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता ॥२०॥

(आकाशे च पदं नाऽस्ति श्रमणो नाऽस्ति बहिः।
प्रपंचाऽभिरताः प्रजा निष्प्रपंचास्तथागताः ॥२०॥)

२५५—आकासे च पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं ॥२१॥

(आकाशे च पदं नाऽस्ति श्रमणो नाऽस्ति बहिः।
संस्काराः शाश्वता न सन्ति,
नाऽस्ति बुद्धानामिङ्गितम् ॥२१॥)

आकाश में ठहराव नहीं, बाहर में सच्चे श्रमण नहीं। लोग प्रपञ्च में रत हैं। तथागत प्रपञ्च रहित हैं।

आकाश मे ठहराव नहीं, बाहर में सच्चे श्रमण नहीं। संस्कृत पदार्थ नित्य नहीं, बुद्धों में चंचलता नहीं।

१९--धम्मट्ठवग्गो

जेतवन — विनिच्छयमहामच्च (= जज)

२५६—न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा नये ।
योच अत्थं अनत्थञ्च उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥ १ ॥

(न तेन भवति धर्मस्थो येनार्थं सहसा नयेत् ।
यश्चाऽर्थं अनर्थं च उभौ निश्चिनुयात् पंडितः ॥ १ ॥)

२५७—असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे ।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो'ति पवुच्चति ॥ २ ॥

(असाहसेन धर्मेण समेन नयते परान् ।
धर्मेण गुप्तो मेधावी धर्मस्थ इत्युच्यते ॥ २ ॥)

विना विचारे यदि कोई न्याय करता हो तो वह न्यायाधीश नहीं। जो पंडित सच्चे और झूठे दोनों का निर्णय कर विचार पूर्वक धर्म से पक्षपात रहित होकर न्याय करता है वही धर्म की रक्षा करने वाला सच्चा न्यायाधीश कहा जाता है।

जेतवन — वज्जिय (भिक्षु)

२५८—न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो'ति पवुच्चति ॥ ३ ॥

(न तावता पंडितो भवति यावता बहु भाषते ।
क्षेमी अवैरी अभयः पंडित इत्युच्यते ॥३॥)

बहुत भाषण करने से पंडित नहीं होता । जो क्षेमवान् अवैरी और अभय होता है, वही ˈडित कहा जाता है ।

जेतवन एकुद्दान (थेर)

२५९—न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति ।
योच अप्पम्पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति ।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति ॥४॥

(न तावता धर्मधरो यावता बहु भाषते ।
यश्चाल्पमपि श्रुत्वा धर्मं कायेन पश्यति ।
स वै धर्मधरो भवति यो धर्मं न प्रमाद्यति ॥४॥)

क्योंकि वह बहुत बोलता है इसलिये वह धर्मधर नहीं होता । जो अल्प भी श्रावण कर धर्म का मानसिक साक्षात करता है वही धर्मधर है, जो धर्म में प्रमाद नहीं करता ।

जेतवन लकुण्टक भद्दिय (थेर)

२६०—न तेन थेरो होति येनऽस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो'ति वुच्चति ॥५॥

(न तेन स्थविरो भवति येनाऽस्य पलितं शिरः ।
परिपक्वं वयस्तस्य मोघजीर्ण इत्युच्यते ॥५॥)

शिरके (बालके) पकनेसे थेर (= स्थविर, वृद्ध) नहीं होता, उसकी आयु परिपक्क हो गई (सही), (किन्तु) वह व्यर्थका वृद्ध कहा जाता है ।

जेतवन लकुण्टक भद्दिय (थेर)

२६१—यम्हि सच्चञ्च धम्मो च अहिंसा सञ्ञमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो 'ति पवुच्चति ॥६॥

(यस्मिन् सत्यं च धर्मश्चाहिंसा संयमो दमः ।
स वै वान्तमलो धीरः स्थविर इत्युच्यते ॥६॥)

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, वही विगतमल, धीर और स्थविर कहा जाता है ।

जेतवन कितने ही भिक्षु

२६२—न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा ।
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो ॥७॥

(न वाक्करणमात्रेण वर्णपुष्कलतया वा ।
साधुरूपो नरो भवति ईर्षुको मत्सरी शठः ॥७॥)

२६३—यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं ।
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो 'ति वुच्चति ॥८॥

(यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघातं समुद्घतम् ।
स वान्तदोषो मेधावी साधुरूप इत्युच्यते ॥८॥)

ईर्ष्या और मात्सर्य से युक्त शठ पुरुष अपने वचन या सौन्दर्य के कारण अच्छा नहीं हो सकता ।

जिसका यह उच्छिन्न हो गया है, समूल नष्ट हो गया है वही द्वेष रहित मेधावी अच्छा कहा जाता है ।

जेतवन हत्थक (भिक्षु)

२६४—न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालाभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ॥९॥

**(न मुंडकेन श्रमणोऽव्रतोऽलीकं भणन् ।
इच्छालाभसमापन्नः श्रमणः किं भविष्यति ॥९॥)**

२६५—यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं समणो'ति पवुच्चति ॥१०॥

**(यश्च शमयति पापानि अणूनि स्थूलानि सर्वशः।
शमितत्त्वाद्धि पापानं श्रमण इत्युच्यते ॥१०॥)**

जो व्रतरहित, मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा लाभसे भरा (पुरुष), क्या श्रमण होगा ? जो छोटे बड़े पापोंको सर्वथा शमन करनेवाला है; पापको शमित होनेके कारण वह समण (= श्रमण) कहा जाता है।

जेतवन कोई ब्राह्मण

२६६—न तेन भिक्खु (सो) होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ॥११॥

**(न तावता भिक्षुः [स] भवति यावता भिक्षते परान् ।
विश्वं धर्मं समादाय भिक्षुर्भवति न तावता ॥११॥)**

दूसरोंके पास जाकर भिक्षा माँगने मात्रसे भिक्षु नहीं होता, (जो) सारे (बुरे) धर्मों (= कामों) को ग्रहण करता है (वह) भिक्षु नहीं होता।

जेतवन कोई ब्राह्मण

२६७–योध पुञ्ञञ्च पापञ्च वाहित्त्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति स वे भिक्खू'ति वुच्चति ॥१२॥

(य इह पुण्यं च पापं च वाहयित्वा ब्रह्मचर्यवान्।
संख्याय लोके चरति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥१२॥)

जो यहाँ पुण्य और पापको छोड़ ब्रह्मचारी बन, ज्ञानके साथ लोकमें विचरता है, वह भिक्षु कहा जाता है।

जेतवन तीर्थिक

२६८–न मोनेन मुनी होति मुल्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं'व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥१३॥

(न मौनेन मुनिर्भवति मूढरूपोऽविद्वान्।
यश्च तुलामिव प्रगृह्य वरमादाय पंडितः ॥१३॥)

२६९–पापानि परिज्जेति स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥१४॥

(पापानि परिवर्जयति स मुनिस्तेन स मुनिः।
यो मनुत उभौ लोकौ मुनिस्तेन प्रोच्यते ॥१४॥)

मौन धारण करने मात्र से कोई अविद्वान मूढ़ मुनि नहीं होता। जो पंडित—मानो श्रेष्ठ तुला ग्रहण करके दोनों लोकों का मान करता है (तौलता है) और पापों को छोड़ देता है वह इस कारण मुनि है और मुनि कहा जाता है।

जेतवन अरिय बालिसिक

२७०—न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति ॥१५॥

(न तेनाऽऽर्यो भवति येन प्राणान् हिनस्ति ।
अहिंसा सर्वप्राणानां आर्य इति प्रोच्यते ॥१५॥)

प्राणियोंको हनन करनेसे (कोई) आर्य नहीं होता, सभी प्राणियोंकी हिंसा न करनेसे (उसे) आर्य कहा जाता है ।

जेतवन बहुतसे शील-आदि-युक्त भिक्षु

२७१—न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पन ।
अथवा समाधिलाभेन विविच्चसयनेन वा ॥१६॥

(न शीलव्रतमात्रेण बाहुश्रुत्येन वा पुनः ।
अथवा समाधिलाभेन विविच्य शयनेन वा ॥१६॥)

२७२—फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं ।
भिक्खू ! विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं ॥१७॥

(स्पृशामि नैष्कर्म्यसुखं अपृथग्जनसेवितम् ।
भिक्षो ! विश्वासं मा पादीः अप्राप्तआस्रवक्षयम् ॥१७॥)

न तो शील और व्रत के आचरण मात्र से, न बहुत पंडित होने से ही, न समाधि का लाभ कर लेने से और न एकान्त वास करने से उस निर्वाण सुख का लाभ करता हूँ जिसे संसारी जीव नहीं पाते । भिक्षुओ. तब तक विश्वास न करो जब तक आश्रवों का क्षय न हो जाय ।

२०—मग्गवग्गो

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

२७३—मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा ।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्च चक्खुमा ॥१॥

(मार्गाणामष्टांगिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि ।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान् ॥१॥)

२७४—एसो'व मग्गो नत्थ'ञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया ।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥२॥

(एष एव मार्गो नाऽस्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये ।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैष प्रमोहनः॥२॥)

मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है, सत्यों में चार पद(= चार आर्यसत्य) श्रेष्ठ हैं, धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है, द्विपदों (= मनुष्यों) में चक्षुष्मान् (= ज्ञाननेत्रधारी, बुद्ध) श्रेष्ठ हैं। दर्शन (= ज्ञान) की विशुद्धि के लिए यही मार्ग है, दूसरा नहीं; (भिक्षुओ !) इसी पर तुम आरूढ़ होओ, यही मार को मूर्छित करने वाला है ।

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

२७५—एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ।
अक्खातो वे मया मग्गो अञ्ञाय सल्लसन्थनं ॥३॥

(एतं हि यूयं प्रतिपन्ना दुःखस्यान्तं करिष्यथ ।
आख्यातो वै मया मार्ग आज्ञाय शल्य-संस्थानम् ॥३॥)

२७६–तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता ।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ॥ ४ ॥

(युष्माभिः कार्यं आतप्यं आख्यातारस्तथागताः ।
प्रतिपन्नाः प्रमोक्ष्यन्ते ध्यायिनो मारबन्धनात् ॥ ४ ॥)

इस मार्ग पर आरूढ़ हो तुम दुखों का अंत कर दोगे। शल्य-समान दुख का निवारण-स्वरूप निर्वाण को जान मैंने इस का उपदेश किया है।

काम तो तुम्हीं को करना है, बुद्ध केवल उपदेश भर कर देते हैं। ध्यानाभ्यासी मार्ग पर आरूढ़ हो मार के बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

२७७–सब्बे सङ्खारा अनिच्चा' ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥५॥

(सर्वे संस्कारा अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धये ॥ ५ ॥)

सभी चीजें अनित्य हैं, इस बात को जब प्रज्ञा से देख लेता है तब दुख मय (संसार) से उसे विरक्ति हो जाती है। विशुद्धि का यही मार्ग है।

२७८–सब्बे सङ्खारा दुक्खा' ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥ ६ ॥

(सर्वे संस्कारा दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखानि, एष मार्गो विशुद्धये ॥ ६ ॥)

सभी चीजें दुख के कारण हैं, इस बात को जब प्रज्ञा से देख लेता है तब दुखमय संसार से उसे विरक्ति हो जाती है। बिशुद्धि का यही मार्ग है।

२७९–सब्बे धम्मा अनत्ता 'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥ ७॥

(सर्वे धर्मा अनात्मान इति यदा प्रज्ञया पश्यति।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये॥ ७॥)

सभी स्थितियाँ असार हैं, इस बात को जब प्रज्ञा से देख लेता है तब दुखमय संसार से उसे विरक्ति हो जाती है। विशुद्धि का यही मार्ग है।

जेतवन (योगी) तिस्स (थेर)

२८०–उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्नसङ्कप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति॥८॥

(उत्थानकालेऽनुत्तिष्ठन् युवा बली आलस्यमुपेतः।
संसन्न-संकल्प-मनाः कुसीदः
प्रज्ञया मार्गं अलसो न विन्दति॥ ८॥)

युवा और बलवान होते हुए भी जो आलस्य में पड़ उद्योग करने के अवसर पर उद्योग नहीं करता वह उच्च आकाँक्षाओं से हीन निर्वीय आलसी प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं करता।

राजगृह (वेणुवन) (शूकर-प्रेत)

२८१–वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा

एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥९॥

(वाचाऽनुरक्षी मनसा सुसंवृतः
कायेन चाऽकुशलं न कुर्यात्।
एतान् त्रीन् कर्मपथान् विशोधयेत्,
आराधयेत् मार्गं ऋषिप्रवेदितम् ॥९॥)

ाणी का संयम करे, मन का संयम करे, और शरीर से कोई पाप । (मन, वचन, काय) इन तीनों कर्म-पथों को शुद्ध करे । बुद्ध ाये मार्ग का अनुसरण करे ।

ातवन पोठिल (थेर)

–योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसङ्खयो ।
एतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च ।
तथ'त्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ॥ १० ॥

(योगाद् वै जायते भूरि अयोगाद् भूरिसंक्षयः ।
एतं द्वेधापथं ज्ञात्वा भवाय विभवाय च ।
तथाऽऽत्मानं निवेशयेद् यथा भूरि प्रवर्धते ॥ १० ॥)

ोगाभ्यास से प्रज्ञा उत्पन्न होती है, और उसके अभाव से उसका ोता है । उन्नति और विनाश के इन दो भिन्न मार्गों को जान अपने ा लगावे जिससे प्रज्ञा की वृद्धि हो ।

ातवन कोई वृद्ध भिक्षु

–वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायती भयं ।
छेत्त्वा वनञ्च वनथञ्च निब्बाना होथ भिक्खवो ! ॥ ११ ॥

(वनं छिन्धि मा वृक्षं वनतो जायते भयम् ।
छित्त्वा वनं च वनथं च निर्वाणा भवत भिक्षवः ॥११॥)

२८४—यावं हि वनथो न छिज्जति अनुमत्तोपि नरस्स नारिसु ।
पटिबद्धमनो नु ताव सो वच्छो खीरपको 'व मातरि ॥ १२ ॥

(यावद्धि वनथो न छिद्यतेऽणुमात्रोऽपि नरस्य नारीषु ।
प्रतिबद्धमनाः नु तावत् स वत्सः क्षीरप इव मातरि ॥१२॥

वन को काटो, वृक्ष को मत, वन से भय उत्पन्न होता है ।*भिक्षुओ ! वन और झाड़ी को काटकर निर्वाण को प्राप्त हो जाओ । जबतक अणुमात्र भी स्त्री में पुरुष की कामना अखंडित रहती है, तबतक दूध पीनेवाला बछड़ा जैसे माता में आबद्ध रहता है, वैसे ही वह पुरुष बंधा रहता है ।

जेतवन सुवण्णकार (थेर)

२८५—उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं 'व पाणिना ।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं ॥ १३ ॥

(उच्छिन्धि स्नेहमात्मनः कुमुदं शारदिकमिव पाणिना ।
शान्तिमार्गमेव बृंहय निर्वाणं सुगतेन देशितम् ॥ १३ ॥)

हाथ से शरद् (ऋतु) के कुमुद की भाँति, आत्मस्नेह को उच्छिन्न कर डालो। सुगत (= बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट (इस) शान्तिमार्ग निर्वाण का आश्रय लो ।

जेतवन (महाधनी वणिक्)

२८६—इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हसु ।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ॥ १४ ॥

(इह वर्षासु वसिष्यामि इह हेमन्तग्रीष्मयोः।
इति बालो विचिन्तयति, अन्तरायं न बुध्यते ॥ १४ ॥)

यहाँ वर्षा में बसूँगा, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्म में (बसूँगा)
मूढ़ इस प्रकार सोचता है। (बीच के) अन्तराय (= विघ्नों) को
बूझता।

जेतवन किसा गोमती (थेर)

:७— तं पुत्तपसुसम्मतं ब्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो 'व मच्चू आदाय गच्छति ॥१५॥

(तं पुत्र-पशु-सम्मतं व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं ग्रामं महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥ १५ ॥)

सोये गाँव को जैसे बड़ी बाढ़ (बहा लेजाये), वैसे ही पुत्र और
में लिप्त आसक्त पुरुष को मौत ले जाती है।

जेतवन पटाचारा (थेरी)

:८—न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता ॥१६॥

(न सन्ति पुत्रास्त्राणाय न पिता नाऽपि बान्धवाः।
अन्तकेनाऽधिपन्नस्य नाऽस्ति ज्ञातिषु त्राणता ॥१६॥)

पुत्र रक्षा नहीं कर सकते, न पिता, न बन्धु लोग ही। जब मृत्यु
। है, तो जातिवाले रक्षक नहीं हो सकते।

२८९—एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बाण-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये ॥१७॥

(एतमर्थवशं ज्ञात्वा पंडितः शीलसंवृतः।
निर्वाणगमनं मार्गं क्षिप्रमेव विशोधयेत् ॥ १७ ॥)

इस बातको जानकर पंडित (नर) शीलवान हो, निर्वाण की ओर ले जानेवाले मार्ग को शीघ्र ही साफ करे।

२१—पकिरणकवग्गो

राजगृह (वेणुवन) गङ्गावरोहण

२९०—मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं ॥ १ ॥

(मात्रासुखपरित्यागात् पश्येच्चेद् विपुलं सुखम्।
त्यजेन्मात्रासुखं धीरः संपश्यन् विपुलं सुखम् ॥ १ ॥)

थोड़े सुख के परित्याग से यदि अधिक सुख की प्राप्ति की सम्भावना देखे, तो बुद्धिमान पुरुष अधिक सुख के ख्याल से अल्प सुख का त्याग कर दे।

जेतवन कोई पुरुष

२९१—परदुक्खूपदानेन यो अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न पमुच्चति ॥ २ ॥

(परदुःखोपादानेन य आत्मनः सुखमिच्छति।
वैरसंसर्गसंसृष्टो वैरात् स न प्रमुच्यते ॥ २ ॥)

दूसरों को दुख देकर जो अपने सुख पाना चाहता है वह वैर-से पूर्ण (पुरुष) वैर से मुक्त नहीं होता।

भाद्दयनगर (जातियावन) भद्दिय (भिक्षु)

२९२—यं हि किच्चं तदपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नलानं पमत्तानं तेसं बड्ढन्ति आसवा ॥ ३ ॥

(यद्धि कृत्यं तद् अपविद्धं, अकृत्यं पुनः क्रियते।
उन्मलानां प्रमत्तानां तेषां बर्द्धन्त आस्रवाः ॥ ३ ॥)

२९३—येसञ्च सुसमारद्धा निच्चं कायगता सति।
अकिच्चन्ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा ॥ ४ ॥

(येषाञ्च सुसमारब्धा नित्यं कायगता स्मृतिः।
अकृत्यं ते न सेवन्ते कृत्ये सातत्यकारिणः।
स्मरतां सम्प्रजानानां अस्तं गच्छन्त्यास्रवाः ॥ ४ ॥)

जो कर्त्तव्य है, उसे (तो वह) छोड़ता है, जो अकर्तव्य है उसे करता है। ऐसे बढ़े मलवाले प्रमादियों के आस्रव (=चित्तमल) बढ़ते हैं। जिन्हें काया में (क्षणभंगुरता, मलिनता आदि दोष सम्बन्धी) स्मृति ❀ उपस्थित रहती है, वह अकर्तव्य को नहीं करते, और कर्तव्य के निरन्तर करनेवाले होते हैं। जो स्मृति और सम्प्रजन्य (=सचेतपन) को रखनेवाले होते हैं, उनके आस्रव अस्त हो जाते हैं।

जेतवन लकुण्टक भद्दिय (थेर)

२९४—मातरं पितिरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥ ५ ॥

(मातरं पितरं हत्त्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ।
राष्ट्रं साऽनुचरं हत्वाऽनघो याति ब्राह्मणः ॥ ५ ॥)

माता (=तृष्णा), पिता (=अहंकार), दो क्षत्रिय राजाओं (=शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि), और अनुचर के साथ सारे राष्ट्र (=संसार की सारी आसक्तियाँ) को मारकर ब्राह्मण (=ज्ञानी) निष्पाप होता है।

२९५—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ॥ ६ ॥

**(मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च श्रोत्रियौ।
व्याघ्रपञ्चमं हत्वाऽनघो याति ब्राह्मणः ॥ ६ ॥)**

माता, पिता, दो क्षत्रिय राजाओं को (=शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि) और पाँचों नीवरणों को मार कर ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।❀

राजगृह (वेणुवन) (दारुसाकटिकपुत्त)

२९६—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ॥७॥

**(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं बुद्धगता स्मृतिः ॥७॥)**

दिन और रात सदैव बुद्ध के गुणानुस्मरण में जो लीन रहते हैं वे गौतम के शिष्य नित्य बुद्ध का स्मरण करते उठते हैं।❀

२९७—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्भिन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ॥ ८ ॥

**(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं धर्मगता स्मृतिः ॥८॥)**

दिन और रात सदैव धर्म के गुणानुस्मरण में जो लोग रहते हैं वे गौतम के शिष्य नित्य बुद्ध का स्मरण करते उठते हैं।

२९८—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं सङ्घगता सति ॥९॥

(सुप्रबुद्धं प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्त्यं संघगता स्मृतिः ॥९॥)

दिन और रात सदैव संघ के गुणानुस्मरण में जो लीन रहते हैं वे गौतम के शिष्य नित्य बुद्ध का स्मरण करते उठते हैं।

२९९—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ॥१०॥

(सुप्रबुद्धं प्रबुध्येन्ते० । ० नित्यं कायगता स्मृतिः ॥१०॥)

दिन और रात सदैव काया की गंदगियों के स्मरण में जो लीन रहते हैं वे० ।

३००—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ॥११॥

(सुप्रबुद्धं० । ०अहिंसायां रतं मनः ॥११॥)

दिन और रात सदैव जिनका मन अहिंसा में रत है वे० ।

३०१—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ॥ १२ ॥

(सुप्रबुद्धं० । ०भावनायां रतं मनः ॥ १२ ॥)

दिन और रात सदैव जिनका मन ध्यानाभ्यास में रत है वे० ।

वैशाली (महावना) वज्जिपुत्तक (भिक्षु)

३०२—दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा ।
दुक्खोऽसमानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू ।
तस्मा न च अद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया ॥१३॥

**(दुष्प्रव्रज्यां दुरभिरामं दुरावासं गृहं दुःखम् ।
दुःखोऽसमानसंवासो दुःखाऽनुपतितोऽध्वगः ।
तस्मान्न चाऽध्वगः स्यान्न च दुःखाऽनुपतितः स्यात् ॥१३॥)**

बुरी तरह ग्रहण की गई प्रव्रज्या के जीवन में रमण करना कठिन है, न रहने योग्य घर में रहना दुखद है, जो मनुष्य अनुकूल नहीं हैं उनके साथ निवास करना दुखद है, संसार के मार्ग में न पड़े, दुख में न पड़ें ।

जेतवन चित्त (गृहपति)

३०३—सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो ।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥ १४ ॥

जेतवन (चुल्ल) सुभद्दा

३०४—दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो 'व पब्बता ।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्तिखित्ता यथा सरा ॥ १५ ॥

**(दूरे सन्तः प्रकाशन्ते हिमवन्त इव पर्वताः ।
असन्तोऽत्र न दृश्यन्ते रात्रिक्षिप्ता यथा शराः ॥१५॥)**

सन्त (जन) दूर होने पर भी हिमालय पर्वत (की) धवल चोटियों की भाँति प्रकाशते हैं, और असन्त यहीं (पास में भी) होने पर, रात में फेंके वाण की भाँति नहीं दिखलाई देते ।

जेतवन अकेले विहरने वाले (थेर)

३०५—एकासनं एकसेय्यं एको चरमतन्दितो ।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ॥ १६ ॥

(एकासन एकशय्य एकश्चरन्नतन्द्रितः ।
एको दमयन्नात्मानं वनान्ते रतः स्यात् ॥ १६ ॥)

एक ही आसन रखने वाला, एक शय्या रखने वाला, अकेला विचरने वाला (बन), आलस्य रहित हो, अपने को दमन कर अकेला ही वनान्त में रमण करे ।

२—निरयवग्गो

जेतवन — सुन्दर (परिव्राजिका)

३०६—अभूतवादी निरयं उपेति यो वापि
कत्वा 'न करोमी' ति चाह।
उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥१॥

(अभूतवादी निरयमुपेति,
यो वाऽपि कृत्वा न करोमी' ति चाह।
उभावपि तौ प्रेत्य समौ भवतो
निहीनकर्माणौ मनुजौ परत्र ॥ १ ॥)

असत्यवादी नरक में जाते हैं, और वह भी जो कि करके 'नहीं किया'—कहते। दोनों ही प्रकार के नीचकर्म करने वाले मनुष्य मरकर समान होते हैं।

राजगृह (वेणुवन) — (पाप फलानुभवी प्राणी)

३०७—कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते उप्पज्जरे ॥२॥

(काषायकंठा बहवः पापधर्मा असंयताः ।
पापाः पापै कर्मभिर्निरयं त उत्पद्यन्ते ॥ २ ॥)

कंठ में काषाय (वस्त्र) डाले कितने ही पापी असंयमी हैं; जो पापी (अपने) पाप कर्मों से नरक में उत्पन्न होते हैं ।

वैशाली (वग्गुमुदातीरवासी भिक्षु)

३०८—सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥३॥

(श्रेयान् अयोगोलो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलः राष्ट्रपिण्डं असंयतः ॥३॥)

असंयमी दुराचारी हो राष्ट्रका पिंड (= देश का अन्न) खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है ।

जेतवन खेम (श्रेष्ठीपुत्री)

३०९—चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जती परदारूपसेवी ।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततीयं निरयं चतुत्थं ॥४॥

(चत्त्वारि स्थानानि नरः प्रमत्त आपद्यते परदारोपसेवी ।
अपुण्यलाभं न निकामशय्यां
निन्दां तृतीयां निरयं चतुर्थम् ॥ ४ ॥)

३१०—अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका,
भीतस्स भीताय रती च थोकिका ।
राजा च दण्डं गरुकं पणेति
तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥ ५ ॥

(अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका,
भीतस्य भीतया रतिश्च स्तोकिका।
राजा च दण्डं गुरुकं प्रणयति
तस्मात् नरः परदारान् न सेवेत ॥५॥)

प्रमादी परस्त्रीगामी मनुष्य की चार गतियाँ हैं— अपुण्य का लाभ सुखसे न निद्रा, तीसरे निन्दा, और चौथे नरक। (अथवा) अपुण्य लाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्प रति, और राजा का भारी दंड देना। इसलिये मनुष्य को परस्त्रीगमन न करना चाहिये।

जेतवन — कटुभाषी (भिक्षु)

३११—कुसो यथा दुग्गहीतो हत्थमेवानुकन्तति।
सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरयायउपकड्ढति ॥६॥

(कुशो यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवाऽनुकृन्तति।
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं निरयायोपकर्षति ॥ ६ ॥)

जैसे ठीक से न पकड़ने से कुश हाथ को ही काट देता है, (इसी प्रकार) श्रवणपन (= संन्यास) ठीक से ग्रहण न करने पर नरक में ले जाता है।

३१२—यं किञ्चि सिथिलं कम्मं सङ्किलिट्ठं च यं वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलं ॥७॥

(यत् किंचित् शिथिलं कर्म संक्लिष्टं च यद् व्रतम्।
संकृच्छ्रं ब्रह्मचर्यं न तद् भवति महत्फलम् ॥ ७ ॥)

जो कर्म की शिथिलता है, जो व्रत क्लेश (= मल)–युक्त है, और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है, वह महाफल (–दायक) नहीं होता।

३१३—कयिरञ्चे कयिराथेनं दळ्हमेनं परक्कमे।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं ॥ ८ ॥

(कुर्याच्चेत् कुर्वीतैतद् दृढमेतत् पराक्रमेत।
शिथिलो हि परिव्राजको भूय आकिरते रजः ॥ ८ ॥)

यदि (प्रव्रज्या कर्म) करना है, तो उसे करे, उसमें दृढ़ पराक्रमके साथ लग जावे; ढीला ढाला परिव्राजक (= संन्यासी) अधिक मल बिखेरता है।

जेतवन (कोई ईर्ष्यालु स्त्री)

३१४—अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं।
कतञ्च सुकतं सेय्यो यं कत्त्वा नानुतप्पति ॥ ९ ॥

(अकृतं दुष्कृतं श्रेयः पश्चात् तपति दुष्कृतम्।
कृतं च सुकृतं श्रेयो यत् कृत्वा नाऽनुतप्यते ॥ ९ ॥)

दुष्कृत(= पाप) का न करना श्रेष्ठ है, दुष्कृत करनेवाला पीछे अनुताप करता है। सुकृत का करना श्रेष्ठ है, जिसको करके (मनुष्य) अनुताप नहीं करता।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

३१५—नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता ॥ १० ॥

(नगरं यथा प्रत्यन्तं गुप्तं सान्तर्बाह्यम्।
एवं गोपयेदात्मानं क्षणं वै मा उपातिगाः।
क्षणाऽतीता हि शोचन्ति निरये समर्पिताः ॥ १० ॥)

सीमान्त का नगर जिस प्रकार भीतर बाहर से खूब रक्षित होता है उसी प्रकार अपने को संयत रक्खे। अवसर न चूके। अवसर चूक जाने से नरक में पड़ कर शोक करता है।

जेतवन (जैनसाधु)

३१६—अलज्जिता ये लज्जन्ति लज्जिता ये न लज्जरे।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ ११ ॥

(अलज्जिता ये लज्जन्ते लज्जिता ये न लज्जन्ते।
मिथ्यादृष्टिसमादानात् सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥११॥)

लज्जा न करने के स्थान में जो लज्जित होते हैं, और लज्जा करने के स्थान में लज्जित नहीं होते—वे जीव मिथ्या-धारणा ग्रहण करने के कारण दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

३१७—अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ १२ ॥

(अभये च भयदर्शिनो भये चाऽभयदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानात् सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥१२॥)

भय न करने के स्थान में भय देखते हैं, और भय करने के स्थान में भय नहीं करते—वे जीव०।

जेतवन (तीर्थिक-शिष्य)

३१८—अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठि० ॥१३॥

(अवद्ये वद्यमतयो वद्ये चाऽवद्यदर्शिनः ।
मिथ्यादृष्टि० ॥१३॥)

अनिन्दनीय बात में दोष देखते हैं, और निन्दनीय बात में दोष नहीं देखते वे जीव० ।

३१९–वज्जञ्च वज्जतो ञत्वा अवज्जञ्च अवज्जतो ।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥ १४ ॥

(वद्यं च वद्यतो ज्ञात्वाऽवद्यं चावद्यतः ।
सम्यग्दृष्टिसमादानात् सत्त्वा गच्छन्तिसु गतिम् ॥१४॥)

निन्दनीय बात को निन्दनीय, और अनिन्दनीय बात को अनिन्दनीय बात को अनिन्दनीय जान सम्यक्-दृष्टि धारण करके प्राणी सुगति को प्राप्त होते हैं ।

२३—नागवग्गो

जेतवन आनन्द (थेर)

३२०—अहं नागो'व सङ्गामे चापतो पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुस्सीलो हि बहुज्जनो ॥ १ ॥

(**अहं नाग इव संग्रामे चापतः पतितं शरम्।**
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये, दुःशीला हि बहुजनाः ॥ १ ॥)

युद्ध में जैसे हाथी धनुष से छोड़े बाणों को सहन करता है वैसे ही मैं कटु वाक्यों को सहन करूँगा। संसार में दुःशील लोग ही अधिक हैं।

३२१—दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु यो'तिवाक्यं तितिक्खति ॥२॥

(**दान्तं नयन्ति समितिं दान्तं राजाऽभिरोहति।**
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु योऽतिवाक्यं तितिक्षते ॥ २ ॥)

दान्त कर लिये गये (हाथी) को युद्ध में ले जाते है, वैसे ही हाथी पर राजा चढ़ता है। अपने को जिसने दमन कर लिया है वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, जो दूसरों के कटु वाक्यों को सहन करता है।

३२२—वरं अस्सतरा दन्ता आजानीया च सिन्धवा।
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्तो ततो वरं ॥ ३ ॥

(वरमश्वतरा दान्ता आजानीयाश्च सिंधवः।
कुंजराश्च महानागा आत्मदान्तस्ततो वरम् ॥ ३ ॥)

खच्चर, अच्छी जाति के घोड़े और महा नाग हाथी दान्तकर लिये जाने पर अच्छे होते हैं। जिसने अपने को दमन कर लिया है वह सबसे अच्छा है।

जेतवन (भूतपूर्व महावत भिक्षु)

३२३–नहि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथाऽत्तना सुदन्तेन दन्तो दन्तेन गच्छति ॥ ४ ॥

(नहि एतैर्यानैः गच्छेदगतां दिशम्।
यथा ऽऽत्मना सुदान्तेन दान्तो दान्तेन गच्छति ॥४॥)

इन यानों से कोई निर्वाण की ओर नहीं जा सकता। अपने को जिसने दमन कर लिया है वही सुदान्त वहाँ पहुँच सकता है।

जेतवन (परिजिरण ब्राह्मणपुत्त)

३२४–धनपालको नाम कुञ्जरो कटकप्पभेदनो दुन्निवारयो।
बद्धो कवलं न भुञ्जति सुमरति नागवनस्स कुञ्जरो ॥ ५ ॥

(धनपालको नाम कुंजरो कटकप्रभेदनो दुर्निवार्यः।
बद्धः कवलं न भुंक्ते, स्मरति नागवनं कुंजरः ॥ ५ ॥)

धनपालक नाम का हाथी, सेना को तितर-बितर कर देनेवाला, अत्यन्त दुर्द्धर्ष बन्धन में पड़ जाने पर ग्रास नहीं खाता। वह हाथियों के जंगल को स्मरण करता है।

जेतवन पसेनदी (कोशलराज)

३२५–मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो 'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥६॥

(मृद्धो यदा भवति महाघसश्च निद्रायितः सपरिवर्तशायी।
महावराह इव निवाप-पुष्टः पुनः पुनः गर्भमुपैति मन्दः ॥६॥)

आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल-बदल कर सोने वाला, खिला-पिला कर पुष्ट किये मोटे सूअर की तरह,—मन्द बार-बार गर्भमें पड़ता है।

जेतवन (सामणेर)

३२६–इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थ कामं यथासुखं।
तदज्ज 'हं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥७॥

(इदं पुरा चित्तमचरत् चारिकां
यथेच्छं यथाकामं यथासुखम्।
तदद्याऽहं निग्रहीष्यामि योनिशो
हस्तिनं प्रभिन्नमिवांकुशग्राहः ॥७॥)

पहले यह चित्त मनमाना जिधर चाहा उधर स्वच्छन्द जाता रहा, उसे आज मैं अच्छी तरह अपने बस में लाऊँगा—अङ्कुश ग्रहण करने वाला जैसे भड़के हाथी को।

जेतवन कोसलराजका पवेय्यक नामक हाथी

३२७–अप्पमादरता होथ स-चित्तमनुरक्खथ।
दुग्गा उद्धरथ'त्तानं पङ्के सत्तो'व कुञ्जरो ॥८॥

(अप्रमादरता भवत स्वचित्तमनुरक्षत।
दुर्गादुद्धरताऽऽत्मानं पंके सक्त इव कुंजरः ॥ ८ ॥)

अप्रमाद में रत होओ, अपने चित्त की रक्षा करो। इस कठिन संसार से अपना उद्धार करो—पङ्क में फँसे हाथी की तरह।

पारिलेय्यक बहुत से भिक्षु

३२८–सचे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेन'त्तमनो सतीमा ॥ ९ ॥

(स चेत् लभेत निपक्वं सहायं
सार्द्धं चरन्तं साधुविहारिणं धीरम्।
अभिभूय सर्वान् परिश्रयान्
चरेत् तेनाऽऽत्तमनाः स्मृतिमान् ॥९॥)

यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पण्डित मित्र मिल जाए तो सभी विघ्नों को दूर कर उसके साथ स्मृतिमान और प्रसन्न होकर विहार करे।

३२९–नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजा 'व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे मातङ्ग'रञ्ञेव नागो ॥ १० ॥

(न चेत् लभेत निपक्वं सहायं
सार्द्धं चरन्तं साधुविहारिणं धीरम्।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय,
एकश्चरेत् मातंगोऽरण्य इव नागः ॥१०॥)

यदि साथ विचरण करने वाला अनुकूल पण्डित मित्र न मिले तो—पराजित राष्ट्र को छोड़ राजा की भाँति—हस्तिराज के समान अकेला विचरण करे।

३३०—एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा
अप्पोस्सुक्को मातङ्ग 'रञ्ञे'व नागो ॥११॥

(**एकस्य चरितं श्रेयो नाऽस्ति बाले सहायता।**
एकश्चरेत् न च पापानि कुर्याद्
अल्पोत्सुको मातंगोऽरण्य इव नागः ॥११॥)

अकेला रहना उत्तम है। मूर्ख के साथ मित्रता अच्छी नहीं। अकेला विचरे, पाप न करे। हस्तिराज की तरह अनुत्सुक होकर रहे।

हिमवत्-प्रदेश मार

३३१—अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया
तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसंखयम्हि
सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहाणं॥ १२ ॥

(**अर्थे जाते सुखाः सहायाः, तुष्टिः सुखा येतरेतरेण।**
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये सर्वस्यदुःखस्य
सुखं प्रहाणम् ॥ १२ ॥)

काम पड़ने पर मित्रों का होना सुखकर है। जो मिले उससे सन्तुष्ट रहना सुख है। मृत्यु के उपरान्त पुण्य सुख है। सभी दुःखो का प्रहाण सुख है।

३३२—सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तेय्यता सुखा।
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥ १३ ॥

(सुखा मात्रीयता लोकेऽथ पित्रीयता सुखा।
सुखा श्रमणता लोकेऽथ ब्राह्मणता सुखा ॥ १३ ॥)

संसार में माता और पिता की सेवा सुखकर है। श्रमणभाव (= संन्यास) सुखकर है, और ब्राह्मणभाव (= निष्पाप होना) भी सुखकर है।

३३३—सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ॥ १४ ॥

(सुखं यावद् जरां शीलं सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता।
सुखः प्रज्ञायाः प्रतिलाभः पापानां अकरणं सुखम् ॥१४)

वृद्धावस्था तक शील का पालन सुखकर है, स्थिर श्रद्धा का होना सुखकर है। ज्ञान का लाभ करना सुखकर है। पापों का न करना सुखकर है।

२४—तण्हावग्गो

जेतवन   कपिलमच्छ

३३४—मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा बड्ढति मालुवा विय ।
सो पलवती हुराहुरं फलमिच्छं 'व वनस्मिं वानरो ॥१॥

(मनुजस्य प्रमत्तचारिणः तृष्णा बर्द्धते मालुवेव ।
स प्लवतेऽहरहः फलमिच्छन् इव वने वानरः ॥ १ ॥)

प्रमत्त होकर विचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता की भांति बढ़ती है । जंगल में फल की इच्छा से कूद-फांद करते वानर की तरह जन्मजन्मान्तर में भटकता रहता है ।

३३५—यं एसा सहती जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका ।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवट्ठं 'व वीरणं ॥२॥

(यं एषा साहयति जाल्मी तृष्णा लोके विषात्मिका ।
शोकास्तस्य प्रवर्द्धन्तेऽभिवृष्टं इव वीरणम् ॥ २ ॥)

यह विष रूपी नीच तृष्णा जिसे अभिभूत कर देती है उसके शोक वर्षाकाल में वीरण तृण की भांति वृद्धि को प्राप्त होते हैं ।

३३६–यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति उदविन्दू 'व पोक्खरा ॥ ३ ॥

(यश्चैतां साहयति जाल्मीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम् ।
शोकाः तस्मात् प्रपतन्त्युदबिन्दुरिव पुष्करात् ॥ ३ ॥)

जो संसार में इस दुस्त्याज्य नीच तृष्णा को जीत लेता है, उसके शोक उस तरह गिर जाते हैं जैसे कमल के ऊपर से जल के विन्दु ।

३३७–तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता ।
तण्हाय मूलं खणाथ उसीरत्थो 'व वीरणं ॥ ४ ॥
मा वो नलं व सोतो व मारो भञ्जि पुनप्पुनं ॥ ४ ॥

(तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्त इह समागताः ।
तृष्णाया मूलं खनतोशीरार्थीव वीरणम् ॥ ४ ॥)

इसलिए मैं तुम्हें; जितने यहाँ आये हुए हैं, तुम्हारे कल्याण के लिए कहता हूँ । तृष्णा की जड़ को खोदो, खस के लिए वीरण घास की तरह । जलधारा जैसे सरकंडे को बार-बार उखाड़ डालती है, वैसे मार तुम्हें न करे ।

जेतवन गूथ-सूकर-पोतिक

३३८–यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे
छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति ।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहते
निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुन ॥ ५ ॥

(यथाऽपि मूलेऽनुपद्रवे दृढे छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरेव रोहति ।
एवमपि तृष्णाऽनुशयेऽनिहते निर्वर्तते दुःखमिदं पुनः पुनः ॥५॥)

जैसे दृढ़मूल के बिलकुल नष्ट न हो जाने से कटा हुआ वृक्ष फिर भी बढ़ जाता है, वैसे तृष्णा और अनुशय के समूल नष्ट न होने से यह दुःख-चक्र बार-बार प्रवर्तित होता रहता है।

३३९—यस्स छत्तिंसती सोता मनापस्सवना भुसा।
वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥ ६ ॥

(यस्य षट्त्रिंशत् स्रोतांसि मनापश्रवणानि भूयासुः।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टिं संकल्पा रागनिःसृताः ॥ ६ ॥)

जिसके *छत्तीस श्रोत* संसार में प्रिय पदार्थों की ओर अत्यन्त प्रवाहित होते हैं उसके राग पूर्ण संकल्प उसे दुर्दृष्टि की ओर बहा ले जाते हैं।

३४०—सवन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तञ्च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥ ७ ॥

(स्रवन्ति सर्वतः स्रोतांसि लता उद्भिद्य तिष्ठति।
तां च दृष्ट्वा लतां जातां, मूलं प्रज्ञया छिन्दत ॥ ७ ॥)

यह स्रोत सभी ओर बहते हैं। *लता* फूट कर निकलती है। उस उगी लता को देख उसके मूल को प्रज्ञा से काट डालो।

३४१—सरितानि सिनेहितानि च सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो।
ते सोतसिता सुखेसिनो ते वे जाति-जरूपगा नरा ॥ ८ ॥

(सरितः स्निग्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः।
ते स्रोतःसृताः सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नराः ॥ ८ ॥)

तृष्णा की धारायें प्राणियों को बड़ी प्रिय और मनोहर लगती हैं। सुख के फेर में पड़े उसकी धारा में पड़ते हैं और बार-बार जन्म जरा के चक्र में आते हैं।⊛

३४२—तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो 'व बाधितो।
सञ्ञोजनसङ्गसत्ता दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥ ९ ॥

(तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः परिसर्पन्ति शश इव बद्धः।
संयोजनसंगसक्ता दुःखमुपेन्ति पुनः पुनः चिराय ॥९॥)

तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी, बंधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं; *संयोजनों* (= मन के बंधनों) में फँसे लोग पुनः पुनः चिरकाल तक दुःख पाते हैं।

३४३—तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो' व बाधितो।
तस्मा तसिनं विनोदये भिक्खू अकङ्खी विरागमत्तनो ॥१०॥

(तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः
परिसर्पन्ति शश इव बद्धः।
तस्मात् तृष्णां विनोदयेद्
भिक्षुराकांक्षी विरागमात्मनः ॥१०॥

तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी, बंधे, खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं; इसलिये वैराग्य की आकांक्षा रख भिक्षु तृष्णा को दूर करे।

वेणुवन विभन्तक (भिक्षु)

३४४—यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥११॥

(यो निर्वनथो वनाऽधिमुक्तो
वनमुक्तो वनमेव धावति।
तं पुद्गलमेव पश्यत मुक्तो
बन्धनमेव धावति ॥ ११ ॥

जो सांसारिक बन्धनों से छूट वनवास करता हुआ फिर बन को छोड़ संसार-तृष्णा (= वन) की ही ओर जाता है। उस पुरुष को देखो—मुक्त होकर फिर बन्धन की ओर जाता है। ❀

जेतवन बन्धनागार

३४५—न तं दल्हं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं बब्बजञ्च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥१२॥

(न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा
यद् आयसं दारुजं बर्वजं च।
संरक्त-रक्ता मणिकुंडलेषु
पुत्रेषु दारेषु च याऽपेक्षा ॥ १२ ॥)

(यह) जो लोहे लकड़ी या रस्सी का बन्धन है, उसे बुद्धिमान (जन) दृढ बन्धन नहीं कहते। (वस्तुतः दृढ बन्धन है जो यह) मणि, कुण्डल, पुत्र स्त्री में इच्छा का होना है।

३४६—एतं दल्हं बन्धनमाहु धीरा
ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतम्पि छेत्त्वान परिब्बजन्ति
अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥ १३ ॥

(एतद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा
अपहारि शिथिलं दुष्प्रमोचम्।
एतदपि छित्त्वा परिव्रजन्त्य-
-नपेक्षिणः कामसुखं प्रहाय ॥१३॥)

धीर पुरुष इसी को दृढ़ बन्धन, अपहारक शिथिल और दुस्त्याज्य कहते हैं; (वह) अपेक्षा रहित हो, तथा काम-सुखों को छोड़, इस (दृढ़) बन्धन को छिन्नकर, प्रव्रजित होते हैं।

राजगृह (वेणुवन) खेमा (बिम्बसार-महिषी)

३४७—ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सयं कतं मक्कटको'व जालं।
एतम्पि छेत्त्वान बजन्ति धीरा
अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥ १४ ॥

(ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः
स्वयंकृतं मर्कटक इव जालम्।
एतदपि छित्त्वा व्रजन्ति धीरा
अनपेक्षिणः सर्वदुखं प्रहाय ॥१४॥)

जो राग में रक्त हैं, वह जैसे मकड़ी अपने बनाये जाल में पड़ती है, (वैसे ही) अपने बनाये, स्रोत में पड़ते हैं। धीर (पुरुष) इस (स्रोत) को भी छेद कर सारे दुःखों को छोड़ आकांक्षा रहित हो चल देते हैं।

राजगृह (वेणुवन) उग्गसेन (श्रेष्ठी)

३४८—मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जतिजरं उपेहिसि ॥ १५ ॥

(मुंच पुरो मुंच पश्चात् मध्ये मुंच भवस्य पारगः ।
सर्वत्र विमुक्तमानसो न पुनः जातिजरे उपैषि ॥१५॥)

आगे पीछे और मध्य की (सभी वस्तुओं को) त्याग दो, (और उन्हें छोड़) भव (सागर) के पार हो जाओ; जिसका मन चारों ओर से मुक्त हो गया, (वह) फिर जन्म और जरा को प्राप्त नहीं होता ।

जेतवन (चुल्ल) धनुग्गह पंडित

३४९—वितक्कपमथितस्स जन्तुनो तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो ।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति एसो खो दळ्हं करोति बन्धनं ॥१६॥

(वितर्क-प्रमथितस्य जन्तोः
तीव्ररागस्य शुभाऽनुदर्शिनः ।
भूयः तृष्णा प्रवर्द्धते एष खलु दृढं करोति बन्धनम् ॥१६॥)

जो प्राणी सन्देह से मथित, तीव्र राग से युक्त, सुन्दर ही सुन्दर को देखने वाला है, उसकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती है, वह (अपनेलिए) और भी दृढ़ बन्धन तय्यार करता है ।

३५०—वितक्कूपसमे च यो रतो असुभं भावयति सदा सतो ।
एस खो व्यन्तिकाहिनी एसच्छेच्छति मारबन्धनं ॥ १७ ॥

(वितर्कोपशमे च यो रतो
ऽशुभं भावयते सदा स्मृतः ।
एष खलु व्यन्तीकरिष्यति
एष छेत्स्यति मारबन्धनम् ॥१७॥)

बुरे विचारों के शान्त करने में जो रत है, सचेत रह (जो) अशुभ (दुनिया के अन्धेरे पहलू) की भी सदा भावना करता है, वह मार के बन्धन को छिन्न करेगा, विनाश करेगा ।

जेतवन मार

३५१—निट्ठङ्गतो असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणो ।
उच्छिज्ज भवसल्लानि अन्तिमो'यं समुस्सयो ॥१८॥

(निष्ठांगतोऽसंत्रासी वीततृष्णोऽनंगणः ।
उत्सृज्य भवशल्यानि, अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः ॥१८॥)

जिसके (पाप-पुण्य) समाप्त हो गये; जो त्रास-उत्पादक नहीं है, जो तृष्णारहित और मलरहित है; वह भव के शल्यों को उखाड़ेगा, यह उसका अंतिम देह है ।

३५२—वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो ।
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च ।
स वे अन्तिमसारीरो महापञ्ञो'ति वुच्चति ॥१९॥

(वीततृष्णोऽनादानो निरुक्तिपदकोविदो ।
अक्षराणां सन्निपातं जानाति पूर्वापराणि च ।
स वै अन्तिमशारीरो महाप्राज्ञ इत्युच्यते ॥१९॥)

जो तृष्णारहित, परिग्रहरहित, भाषा और काव्य का जानकार है; और (जो) अक्षरों के पहिले पीछे रखने को जानता है, वह निश्चय ही अन्तिम शरीर वाला तथा महाप्राज्ञ कहा जाता है ।

बाराणसी से गया के रास्ते में उपक (आजीवक)

३५३—सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो ।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो
सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥ २० ॥

(सर्वाभिभूः सर्वविदहमस्मि सर्वेषु धर्मेष्वनुपलिप्तः ।
सर्वंजहः तृष्णाक्षये विमुक्तः
स्वयमभिज्ञाय कमुद्दिशेयम् ॥२०॥)

मैं (राग आदि) सभी का परास्त करने वाला हूँ, (दुःख से मुक्ति पाने की) सभी (बातों) का जानकार हूँ, सभी धर्मों (= पदार्थों) में अलिप्त हूँ, सर्वत्यागी, तृष्णा के नाश से मुक्त हूँ, (विमल ज्ञान को) अपने ही जानकर (मैं अब) किसको (अपना गुरु) बतलाऊँ ?

जेतवन सक्क देवराज

३५४—सब्बदानं धम्मदानं जिनाति
सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति ।
सब्बं रतिं धम्मरती जिनाति
तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥ २१ ॥

(सर्वदानं धर्मदानं जयति
सर्वं रसं धर्मरसो जयति ।
सर्वां रतिं धर्मरतिर्जयति
तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जयति ॥२१॥)

धर्म का दान सारे दानों से बढ़कर है, धर्मरस सारे रसों से प्रबल है, धर्म में रति सब रतियों से बढ़कर है, तृष्णा का विनाश सारे दुःखों को जीत लेता है ।

जेतवन (अपुत्रक श्रेणी)

३५५—हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे पारगवेसिनो ।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञे' व अत्तनं ॥ २२ ॥

(घ्नन्ति भोगा दुर्मेधसं न चेत् पारगवेषिणः ।
भोगतृष्णया दुर्मेधा हन्त्यन्य इवात्मनः ॥ २२ ॥)

(संसार को) पार होने की कोशिश न करनेवाले दुर्बुद्धि (पुरुष) को भोग नष्ट करते हैं, भोग की तृष्णा में पड़कर (वह) दुर्बुद्धि पराये की भाँति अपने ही को हनन करता है।

पाण्डुकम्बलशिला (देवलोक) अङ्कुर

३५६—तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥ २३ ॥

(तृषदोषाणि क्षेत्राणि रागदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतरागेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥२३॥)

खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा (= मनुष्यों) का दोष राग है, इसलिये (दान) वीतराग (पुरुष) को देने में महाफल होता है।

३५७—तिणदोसानि खेत्तानि दोसदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥ २४ ॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि द्वेषदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतद्वेषेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २४ ॥)

खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा का दोष द्वेष है; इसलिये वीतद्वेष (= द्वेषरहित) को देने में महाफल होता है।

३५८—तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥ २५ ॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि मोहदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतमोहेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥२५॥)

खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा का दोष मोह है; इसलिये वीतमोह (=मोहरहित) को देने में महाफल होता है ।

३५९.–तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसा अयं पजा ।
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥२६॥

(तृणदोषाणि क्षेत्राणि, इच्छादोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि विगतेच्छेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥२६॥)

खेतों का दोष तृण है, इस प्रजा का दोष इच्छा है; इसलिये विगतेच्छ (= इच्छारहित) को देने में महाफल होता है ।

२५—भिक्खुवग्गो

जेतवन — पाँच भिक्षु

३६०—चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ॥ १ ॥

(चक्षुषा संवरः साधुः, साधुः श्रोत्रेण संवरः।
घ्राणेन सवरः साधुः साधुः जिह्वया संवरः ॥ १ ॥)

आँख का संवर (=संयम) ठीक है, ठीक है कान का संवर, घ्राण (=नाक) का संवर ठीक है, ठीक है जीभ का संवर।

३६१—कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ २ ॥

(कायेन संवरः साधुः साधुः वाचा संवरः।
मनसा संवरः साधुः, साधुः सर्वत्र संवरः।
सर्वत्र संवृतो भिक्षुः सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥ २ ॥)

कायाका संवर (=संयम) ठीक है, ठीक है वचन का संवर; मन का संवर ठीक है, ठीक है सर्वत्र (इन्द्रियों) का संवर। सर्वत्र संवर-युक्त भिक्षु सारे दुःखोंसे छूट जाता है।

जेतवन हंसघातक (भिक्षु)

३६२—हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो वाचाय सञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो ।
अज्झत्तरतो समाहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ॥३॥

(हस्तसंयतः पादसंयतो वाचा संयतः संयतोत्तमः ।
अध्यात्मरतः समाहित एकः सन्तुष्टस्तमाहुर्भिक्षुम् ॥३॥)

जिसके हाथ, पैर और वचनमें संयम है, (जो) उत्तम संयमी है, जो घटके भीतर (= अध्यात्म) रत, समाधियुक्त, अकेला (और) सन्तुष्ट है, उसे भिक्षु कहते हैं ।

जेतवन कोकालिय

३६३—यो मुखसञ्ञतो भिक्खु मन्तभाणी अनुद्धतो ।
अत्थं धम्मञ्च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ॥ ४ ॥

(यो मुखसंयतो भिक्षुर्मन्त्रभाणी अनुद्धतः ।
अर्थं धर्मं च दीपयति मधुरं तस्य भाषितम् ॥ ४ ॥)

जो मुख में संयम रखता है, मनन करके बोलता है, उद्धत नहीं है, अर्थ और धर्म को प्रकट करता है, उसका भाषण मधुर होता है ।

जेतवन धम्माराम (थेर)

३६४—धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं ।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु सद्धम्मा न परिहायति ॥ ५ ॥

(धर्मारामो धर्मरतो धर्मं अनुविचिन्तयन् ।
धर्ममनुस्मरन् भिक्षुः सद्धर्मान्न परिहीयते ॥ ५ ॥)

धर्म में रमण करनेवाला, धर्ममें रत, धर्मका चिन्तन करते, धर्म का अनुस्मरण करते भिक्षु सच्चे धर्म से च्युत नहीं होता।

राजगृह (वेणुवन) विपक्ख-सेवक (भिक्खु)

३६५—सलाभं नातिमञ्ञेय्य, नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खू समाधिं नाधिगच्छति ॥ ६ ॥

(स्वलाभं नाऽतिमन्येत, नाऽन्येषां स्पृहयन् चरेत्।
अन्येषां स्पृहयन् भिक्षुः समाधिं नाऽधिगच्छति ॥ ६ ॥)

अपने लाभ की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। दूसरों के (लाभ) की स्पृहा न करनी चाहिये। दूसरों के (लाभकी) स्पृहा करनेवाला भिक्षु समाधि (= चित्त की एकाग्रता) को नहीं प्राप्त करता।

३६६—अप्पलाभोपि चे भिक्खु स-लाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्द्रितं ॥ ७ ॥

(अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षुः स्वलाभं नाऽतिमन्यते।
तं वै देवाः प्रशंसन्ति शुद्धाऽऽजीवं अतन्द्रितम् ॥ ७ ॥

चाहे अल्प ही हो, भिक्षु अपने लाभकी अवहेलना न करे। उसीकी देवता प्रशंसा करते हैं, (जो) शुद्ध जीविकावाला और आलस्यरहित है।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

३६७—सब्बसो नाम-रूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति स वे भिक्खूति वुच्चति ॥ ८ ॥

(सर्वशो नामरूपे यस्य नाऽस्ति ममायितम्।
असति च न शोचति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥ ८ ॥)

नाम-रूप (= जगत) में जिन की बिल्कुल ही ममता नहीं, न होने पर (जो) शोक नहीं करता, वही भिक्षु कहा जाता है ।

जेतवन बहुतसे भिक्षु

३६८—मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥ ९ ॥

(मैत्रीविहारी यो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥ ९ ॥)

मैत्री (भावना) से विहार करता जो भिक्षु बुद्धके उपदेश में प्रसन्न (= श्रद्धावान्) रहता है, वह सभी संस्कारों को शमन करने वाले शान्त (और) सुखमय पदको प्राप्त करता है ।

३६९— सिञ्च भिक्खु ! इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति ।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बाणमेहिसि ॥ १० ॥

(सिंच भिक्षो ! इमां नावं सिक्ता ते लघुत्वं एष्यति ।
छित्वा रागं च द्वेषं च ततो निर्वाणमेष्यसि ॥ १० ॥)

हे भिक्षु ! इस नावको उलीचो, उलीचने पर (यह) तुम्हारे लिये हल्की हो जायेगी । राग और द्वेष को छिन्न कर, फिर तुम निर्वाण को प्राप्त होगे ।

३७०—पंच छिन्दे पञ्च जहे पञ्च चुत्तरि भावये ।
पञ्च सङ्गातिगो भिक्खु ओघतिण्णो' ति वुच्चति ॥ ११ ॥

(पंच छिन्धि पंच जहीहि पंचोत्तरं भावय ।
पंचसंगाऽतिगो भिक्षुः, 'ओघतीर्ण' इत्युच्यते ॥ ११ ॥)

पांचको काटे, पांच को छोड़ दे, ऊपरके पांच का अभ्यास करे। पांच बन्धनों को पार कर गया भिक्षु 'धारा को पार कर गया' कहा जाता है।*

३७१–झाय भिक्खू ! मा च पामदो
मा ते कामगुणे भमस्सु चित्तं।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो
मा कंदी दुक्खमिदन्ति डय्हमानो ॥ १२ ॥

(ध्याय भिक्षो ! मा च प्रमादः,
मा ते कामगुणे भ्रमतु चित्तम्।
मा लोहगोलं गिल प्रमत्तः,
मा क्रन्दीः दुःखमिदमिति दह्यमानः ॥१२॥)

हे भिक्षु ! ध्यान में लगो, मत गफलत करो, तुम्हारा चित्त मत भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त होकर मत लोहे के गोले को निगलो। '(हाय !) यह दुःख' कहकर दग्ध होते (पीछे) मत तुम्हें कन्दन करना पड़े।

३७२–नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बाणसन्तिके ॥१३॥

(नाऽस्ति ध्यानमप्रज्ञस्य प्रज्ञा नाऽस्त्यध्यायतः ॥
यस्मिन् ध्यानं च प्रज्ञा च सवै निर्वाणाऽन्तिके ॥१३॥)

प्रज्ञाविहीन (पुरुष) को ध्यान नहीं (होता) है, ध्यान (एकाग्रता) न करनेवाले को प्रज्ञा नहीं हो सकती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा (दोनों) हैं, वही निर्वाण के समीप है।

३७३–सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रती होति सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥१४॥

(शून्यागारं प्रविष्टस्य शान्तचित्तस्य भिक्षोः ।
अमानुषी रतिर्भवति सम्यग् धर्मं विपश्यतः ॥१४॥)

शून्य(=एकान्त) गृह में प्रविष्ट, शान्तचित्त भिक्षुको भले प्रकार धर्मका साक्षात्कार करते, अमानुषी रति (=आनंद) होती है।

३७४–यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥१५॥

(यतो यतः संमृशति स्कन्धानां उदयव्ययम् ।
लभते प्रीतिप्रामोद्यं अमृतं तद् विजानताम् ॥१५॥)

(पुरुष) जैसे-जैसे (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन) पाँच स्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, (वैसे ही वैसे, वह ज्ञानियोंकी प्रीति और प्रमोद (रूपी) अमृतको प्राप्त करता है।

३७५–तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ती सन्तुट्ठी पातिमोक्खे च संवरो।
मित्ते भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते ॥ १६ ॥

(तत्राऽयमादिर्भवति प्राज्ञस्य भिक्षोः।
इन्द्रियगुप्तिः सन्तुष्टिः प्रातिमोक्षे च संवरः।
मित्राणि भजस्व कल्याणानि शुद्धाजीवान्यतन्द्रितानि॥१६॥)

इस धर्म में ज्ञानी भिक्षु का इसी से प्रारम्भ होता है—इन्द्रिय संयम, संतोष, *प्रातिमोक्ष* नियमों का पालन। शुद्ध जीविका वाले, आलस्य रहित तथा सच्चे मित्रों का संग करे।

३७६–पटिसन्थारवुत्तस्स आचारकुसलो सिया।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥ १७ ॥

(प्रतिसंस्तारवृत्तस्याऽऽचारकुशलः स्यात् ।
ततः प्रामोद्यबहुलो दुःखस्याऽन्तं करिष्यति ॥ १७ ॥)

जो सेवा-सत्कार स्वभाव वाला तथा आचार (पालन) में निपुण है, वह सानन्द दुःख का अन्त करेगा ।

जेतवन पाँच सौ भिक्षु

३७७—वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति ।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो ॥ १८ ॥

(वर्षिका इव पुष्पाणि मर्दितानि प्रमुंचति ।
एवं रागं च द्वेषं च विप्रमुंचत भिक्षवः ॥ १८ ॥)

जैसे जूही कुम्हलाये फूलों को छोड़ देती है, वैसे ही हे भिक्षुओ ! (तुम) राग और द्वेष को छोड़ दो ।

जेतवन (शान्तकाय थेर)

३७८—सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो ।
वन्तलोकामिसो भिक्खु उपसन्तो 'ति वुच्चति ॥ १९ ॥

(शान्तकायो शान्तवाक् शान्तिमान् सुसमाहितः ।
वान्तलोकाऽऽमिषो भिक्षुः 'उपशान्त' इत्युच्यते ॥ १९ ॥)

काया (और) वचन से शान्त, भली प्रकार समाधियुक्त, शान्ति सहित (तथा) लोकके आमिषको वमन कर दिये हुए भिक्षुको 'उपशान्त' कहा जाता है ।

जेतवन लङ्गूल (थेर)

३७९—अत्तना चोदय'त्तानं पटिवासे अत्तमत्तना ।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुखं भिक्खु विहाहिसि ॥ २० ॥

(आत्मना चोदयेदात्मानं प्रतिवसेदात्मानं आत्मना ।
स आत्मगुप्तः स्मृतिमान् सुखं भिक्षो ! विहरिष्यसि ॥२०॥)

(जो) अपने ही आपको प्रेरित करेगा, अपने ही आपको संलग्न करेगा; वह आत्म-गुप्त (=अपने द्वारा रक्षित) स्मृति-संयुक्त भिक्षु सुखसे विहार करेगा !

३८०—अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति ।
तस्मा सञ्ञमयत्तानं अस्सं भद्रं'व वाणिजो ॥ २१ ॥

(आत्मा ह्यात्मनो नाथ आत्मा ह्यात्मनो गतिः ।
तस्मात् संयमयात्मानं अश्वं भद्रमिव वणिक् ॥ २१ ॥)

मनुष्य अपने ही अपना स्वामी है, अपने ही अपनी गति है; इसलिये अपने को संयमी बनावे, जैसे कि सुन्दर घोड़े को बनिया (संयत करता है)।

राजगृह (वेणुवन) वक्कलि (थेर)

३८१—पामोज्जबहुलो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥ २२ ॥

(प्रामोद्यबहुलो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥ २२ ॥)

बुद्ध के उपदेश में प्रसन्न बहुत प्रमोदयुक्त भिक्षु संस्कारों को उपशमन करनेवाले सुखमय शान्त पदको प्राप्त करता है ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) सुमन (सामणेर)

३८२—यो ह वे दहरो भिक्खु युञ्जति बुद्धसासने ।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो'व चन्दिमा ॥ २३ ॥

(यो ह वै दहरो भिक्षुर्युंक्ते बुद्धशासने।
स इमं लोकं प्रभासयत्यभ्रान् मुक्त इव चन्द्रमा ॥२३॥)

जो भिक्षु यौवनमें बुद्ध-शासन (= बुद्धोपदेश, बुद्ध-धर्म) में संलग्न होता है, वह मेघ से मुक्त चन्द्रमा की भाँति इस लोक को प्रकाशित करता है।

२६—ब्राह्मणवग्गो

जेतवन (एक बहुत श्रद्धालु ब्राह्मण)

३८३—छिन्द सोतं परक्कम्म कामे पनुद ब्राह्मण ! ।
संखारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण ! ॥ १ ॥

(छिन्धि स्रोतः पराक्रम्य कामान् प्रणुद ब्राह्मण ! ।
संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वाऽकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण ! ॥ १ ॥)

(तृष्णा रूपी) धारा को काट दो । पराक्रम करो । हे ब्राह्मण ! कामनाओं को दूर करो । हे ब्राह्मण ! संस्कारों के क्षय को जान कर अकृत = निर्वाण का साक्षात्कार कर लोगे ।

जेतवन (बहुतसे भिक्षु)

३८४—यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो ।
अथस्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥ २ ॥

(यदा द्वयोर्धर्मयोः पारगो भवति ब्राह्मणः ।
अथाऽस्य सर्वे संयोगा अस्तं गच्छन्ति जानतः ॥ २ ॥)

जब धर्माभ्यासी (*समथ* और *विदर्शना* इन) दो धर्मों में सिद्ध हो जाता है तब उस ज्ञानी के सभी बन्धन अस्त हो जाते हैं ।

जेतवन मार

३८५—यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति ।
वीतद्दरं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३ ॥

(यस्य पारं अपारं वा पारापारं न विद्यते ।
वीतदरं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥)

जिसके पार (= आँख, कान, नाक, जीभ, काया, मन), अपार (= रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, धर्म) और पारापार (= मैं और मेरा) नहीं हैं, (जो) निर्भय और अनासक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (कोई ब्राह्मण)

३८६—झायिं विरजमासीनं कतकिच्चं अनासवं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४ ॥

(ध्यायिनं विरजमासीनं कृतकृत्यं अनास्रवम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥)

(जो) ध्यानी, निर्मल, आसनबद्ध (= स्थिर), कृतकृत्य, आस्रव (= चित्तमल) रहित है, जिसने उत्तम अर्थ (= सत्य) को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) आनन्द (थेर)

३८७—दिवा तपति आदिच्चो रत्तिं आभाति चन्दिमा ।
सन्नद्धो खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो ।
अथ सब्बमहोरत्तिं बुद्धो तपति तेजसा ॥ ५ ॥

(दिवा तपत्यादित्यो रात्रावाभाति चन्द्रमा ।
सन्नद्धः क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मणः ।
अथ सर्वमहोरात्रं बुद्धस्तपति तेजसा ॥ ५ ॥)

दिनमें सूर्य तपता है, रातको चन्द्रमा प्रकाशता है, कवचबद्ध (होने पर) क्षत्रिय तपता है, ध्यानी (होनेपर) ब्राह्मण तपता है, और बुद्ध रात-दिन (अपने) तेजसे सब (से अधिक) तपते हैं ।

जेतवन (कोई प्रव्रजित)

३८८—वाहितपापो 'ति ब्राह्मणो समचरिया समणो' ति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितो, ति वुच्चति ॥ ६ ॥

(वाहितपाप इति ब्राह्मणः समचर्यः श्रमण इत्युच्यते ।
प्राव्रजयन्नाऽऽत्मनो मलं तस्मात् प्रव्रजित इत्युच्यते ॥ ६ ॥)

जिसने पाप को (धोकर) वहा दिया वह ब्राह्मण है, जो समताका आचरण करता है, वह समण (=श्रमण=संन्यासी) है, (चूँकि) उसने अपने (चित्त-) मलोंको हटा दिया, इसीलिये वह प्रव्रजित कहा जाता है ।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

३८९—न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुंचेथ ब्राह्मणो ।
धि ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धि यस्स मुञ्चति ॥ ७ ॥

(न ब्राह्मणं प्रहरेत् नाऽस्मै मुञ्चेद् ब्राह्मणः ।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं ततो धिग् यस्मै मुंचति ॥ ८ ॥)

ब्राह्मण (=निष्पाप) पर प्रहार नहीं करना चाहिये, और ब्राह्मण

को भी उस (प्रहारदाता) पर (कोप) नहीं करना चाहिये। ब्राह्मण को जो मारता है उसे धिक्कार है, और धिक्कार उसको भी है जो (उसके लिये) कोप करता है।

३९०—न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो
यदा निसेधो मनसो पियेहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति
ततो ततो सम्मति एव दुक्खं ॥ ८ ॥

(न ब्राह्मणस्यैतद् अकिंचित् श्रेयो
यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्यः।
यतो यतो हिंस्रमनो निवर्तते
ततस्ततः शाम्यत्येव दुःखम् ॥ ८ ॥)

ब्राह्मण के लिये यह बात कम कल्याण (कारी) नहीं है, जो वह प्रिय (पदार्थों) से मन को हटा लेता है, जहाँ जहाँ मन हिंसा से मुड़ता है, वहाँ वहाँ दुःख (अवश्य) ही शान्त हो जाता है।

जेतवन — महापजापति गोमती

३९१—यस्य कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रमि ब्राह्मणं ॥ ९ ॥

(यस्य कायेन वाचा मनसा नाऽस्ति दुष्कृतम्।
संवृतं त्रिभिः स्थानैः, तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥)

जिसके मन, वचन और कार्य से दुष्कृत (=पाप) नहीं होते, (जो इन) तीनों ही स्थानों से संवर (=संयम)-युक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

३९२—यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासम्बुद्धदेसितं।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं 'व ब्राह्मणो ॥ १० ॥

(यस्माद् धर्मं विजानीयात् सम्यक्-संबुद्ध-देशितम्।
सत्कृत्य तं नमस्येद् अग्निहोत्रमिव ब्राह्मणः ॥ १० ॥)

जिस (उपदेशक) से सम्यक्संबुद्ध (=बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट धर्म को जाने, उसे (वैसे ही) सत्कार-पूर्वक नमस्कार करे, जैसे अग्निहोत्र को ब्राह्मण।

जेतवन जटिल ब्राह्मण

३९३—न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥ ११ ॥

(न जटाभिर्न गोत्रैर्न जात्या भवति ब्राह्मणः।
यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ॥११॥)

न जटासे, न गोत्रसे, न जन्मसे ब्राह्मण होता है, जिसमें सत्य और धर्म हैं, वही शुचि (पवित्र) और वही ब्राह्मण है।

वैशाली (कूटागारशाला) (पाखंडी ब्राह्मण)

३९४—किं ते जटाहि दुम्मेध ! किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥ १२ ॥

(किं ते जटाभिः दुर्मेध ! किं तेऽजिनशाट्या।
आभ्यन्तरं ते गहनं बाहिः परिमार्जयसि ? ॥ १२ ॥)

हे दुर्बुद्धि ! जटाओंसे तेरा क्या (बनेगा), (और) मृगचर्मके पहिननेसे तेरा क्या ? भीतर (दिल) तो तेरा (राग आदि मलोंसे) परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है ?

राजगृह (गृध्रकूट) किसा गोमती

३९५—पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १३ ॥

(पांशुकूलधरं जन्तुं कृशं धमनिसन्ततम् ।
एकं वने ध्यायन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥)

जो प्राणी फटे चीथड़ोंको धारण करता है, जो दुबला पतला और नसोंसे मढ़े शरीरवाला है, जो अकेला बनमें ध्यानरत रहता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (एक ब्राह्मण)

३९६—न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं ।
'भो वादि' नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥१४॥

(न चाऽहं ब्राह्मणं ब्रवीमि योनिजं मातृसम्भवम् ।
'भो वादी' नाम स भवति स वै भवति सकिंचनः ।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥१४॥)

माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण किसी को मैं ब्राह्मण नहीं कहता । यदि वह सम्पन्न हो तो लोग (भले ही) उसे (सम्मानपूर्वक)

'भो' कह कर पुकारें। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूं जो अपरिग्रही और त्यागी है।

राजगृह (वेणुवन) उग्गसेन (श्रेष्ठीपुत्र ;

३९७—सब्बसञ्ञोजनं छेत्त्वा यो वे न परितस्सति।
सङ्गातिगं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ १५॥

(सर्वसंयोजनं छित्त्वा यो वै न परित्रस्यति।
संगाऽतिगं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥ १५॥)

जो सारे संयोजनों (=बंधनों) को काटता है, जो कि भय नहीं खाता, जो संग और आसक्ति से विरत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन (दो ब्राह्मण)

३९८—छेत्त्वा नन्दिं वरत्तञ्च सन्दामं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ १६॥

(छित्त्वा नन्दिं वरत्रां च सन्दानं सहनुक्रमम्।
उत्क्षिप्तपरिघं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥ १६॥)

नद्धि, रस्सी, पगहे और जाले को काट, जूए को फेंक जो बुद्ध हुआ उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। ❀

राजगृह (वेणुवन) (अक्कोस) भारद्वाज

३९९—अक्कोसं बधबन्धञ्च अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ १७॥

(अक्रोशन् बध-बंधं च अदुष्टो यस्तितिक्षति ।
क्षान्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥)

जो बिना दूषित (चित्त) किये गाली, बध और बंधन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसके बल (= सेना) का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) सारिपुत्त (थेर)

४००—अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १८ ॥

(अक्रोधनं व्रतवन्तं शीलवन्तं अनुश्रुतम् ।
दान्तं अन्तिमशरीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १८ ॥)

जो अक्रोधी, व्रती, शीलवान्, बहुश्रुत, संयमी (= दान्त) और अन्तिमशरीर वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह [वेणुवन) उप्पलवण्णा [थेरी]

४०१—वारि पोक्खरपत्ते 'व आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १९ ॥

(वारि पुष्करपत्र इव, आराग्र इव सर्षपः ।
यो न लिप्यते कामेषु तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १९ ॥)

कमलके पत्ते पर जल, और आरे के नोक पर सरसो की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (कोई ब्राह्मणो)

४०२—यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २० ॥

(यो दुःखस्य प्रजानातीहैव क्षयमात्मनः ।
पन्नभारं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२०॥)

जो यहीं (= इसी जन्म में) अपने दुःखोंके विनाशको जान लेता है, जिसने अपने बोझको उतार फेंका, और जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (गृध्रकूट) खेमा (भिक्षुणी)

४०३—गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २१ ॥

(गम्भीरप्रज्ञं मेधाविनं मार्गामार्गस्य कोविदम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२१॥)

जो गम्भीर प्रज्ञावाला, मेधावी, मार्ग-अमार्ग का ज्ञाता, उत्तम पदार्थ (= सत्य) को पाये है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (पब्भारवासी) तिस्स (थेर)

४०४—असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं ।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २२ ॥

(असंसृष्टं गृहस्थैः अनागारैश्चोभाभ्याम् ।
अनोकसारिणं अल्पेच्छं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२०॥)

घरवाले (= गृहस्थ) और बेघरवाले दोनों ही में जो लिप्त नहीं होता, जो बिना ठिकाने के घूमता तथा अल्पेच्छ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन (कोई भिक्षु)

४०५–निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २३ ॥

(निधाय दण्डं भूतेषु स्थावरेषु च ।
यो न हन्ति न घातयति तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२३॥)

चर-अचर (सभी) प्राणियों में प्रहारविरत हो, जो न मारता है, न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन चार श्रामणेर

४०६–अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं ।
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २४ ॥

(अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं ।
सादानेष्वानादान तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२४॥)

जो विरोधियों के बीच विरोधरहित रहता है, जो दण्डधारियों बीच (दण्ड–) रहित है, संग्राहियों में जो संग्रहरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) महापन्थक (थेर)

४०७–यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो ।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २५ ॥

(यस्य रागश्च द्वेषश्च मानो म्रक्षश्च पातितः ।
सर्षप इवाऽऽराग्रात् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२५॥)

आरे के ऊपर सरसो की भाँति, जिसके (चित्त से) राग, द्वेष, मान, डाह, फेंक दिए गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

राजगृह (वेणुवन) पिलिन्द (वच्छ थेर)

४०८—अक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे किञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२६॥

(अकर्कशां विज्ञापनीं गिरं सत्यां उदीरयेत्।
यया नाऽभिषजेत् किंचित् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२६॥)

(जो इस प्रकार की) अकर्कश, सार्थक (तथा) सच्ची वाणी को बोले; कि जिससे कुछ भी पीडा न होवे, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन कोई स्थविर

४०९—यो'धदीघं वा रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियते तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२७॥

(य इह दीर्घं वा ह्रस्वं वाऽणुं स्थूलं शुभाऽशुभम्।
लोकेऽदत्तं नादत्ते तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२७॥)

(चीज) चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, मोटी हो या पतली, शुभ हो या असुभ, जो संसार में (किसी भी) बिना दी गई चीज को नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन सारिपुत्त (थेर)

४१०—आसा यस्स न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२८॥

(आशा यस्य न विद्यन्तेऽस्मिन् लोके परस्मिन् च ।
निराशयं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२८॥

इस लोक और परलोक के विषय में जिसकी आशायें (=चाह) नहीं रह गई हैं, जो आशारहित और आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन — महामोग्गलान (थेर)

४११—यस्सालया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथंकथी ।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥२९॥

(यस्याऽऽलया न विद्यन्त आज्ञायाऽकथंकथी ।
अमृतावगाधमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥२९॥)

जिसे तृष्णा (=आलय) नहीं है, जो जानकर संशयरहित होगया है तथा जिसने पैठकर अमृत पद निर्वाण को पा लिया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

श्रावस्ती (पूर्वाराम) — जेवत (थेर)

४१२—योध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभो सङ्गं उपच्चगा ।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३०॥

(य इह पुण्यं च पापं चोभयोः संगं उपात्यगात् ।
अशोकं विरजं शुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मम् ॥३०॥)

जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति को छोड़ दिया, जो शोकरहित, निर्मल, और शुद्ध है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

जेतवन चन्दाभ (थेर)

४१३—चन्दं'व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३१॥

**(चन्द्रमिव विमलं शुद्धं विप्रसन्नमनाविलम्।
नन्दीभवपरीक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३१॥)**

जो चन्द्रमा की भांति विमल, शुद्ध, स्वच्छ = अनाविल है (तथा-जिसकी) सभी जन्मोंकी तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

कुण्डिया (कोयलि) सीवलि (थेर)

४१४— यो इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारतो झायी अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३२॥

**(य इमं प्रतिमथं दुर्गं संसारं मोहमत्यगात्।
तीर्णः पारगतो ध्याय्यनेजोऽकथंकथी।
अनुपादाय निर्वृतः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३२॥)**

जिसने इस दुर्गम संसार, (=जन्म मरण) के चक्कर में डालनेवाले मोह (रूपी) उलटे मार्ग को त्याग दिया, जो (संसार से) पारंगत, ध्यानी तथा तीर्ण (= तर गया) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन सुन्दर समुद्द (थेर)

४१५—यो 'ध कामे पहत्त्वान अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३३॥

(य इह कामान् प्रहाया ऽनागारः परिव्रजेत् ।
कामभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३३॥)

जो यहाँ भोगों को छोड़, बेघर हो प्रव्रजित (=संन्यासी) हो गया है, जिसके भोग और जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) जटिल (थेर)

४१६–यो 'ध तण्हं पहत्त्वान अनागारो परिब्बजे ।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३४॥

(य इह तृष्णां प्रहायाऽनागारः परिव्रजेत् ।
तृष्णाभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३४॥)

जो यहाँ तृष्णा को छोड़, बेघर बन प्रव्रजित है, जिसकी तृष्णा और (पुनर्) जन्म नष्ट हो गये, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

राजगृह (वेणुवन) (भूतपूर्व नट भिक्षु)

४१७–हित्त्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा ।
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३५॥

(हित्त्वा मानुषकं योगं दिव्यं योगं उपात्यगात् ।
सर्वयोगविसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३५॥)

जो मनुष्य के बन्धनों को छोड़, दिव्य बन्धनों को भी छोड़ चुका है सभी बन्धनों से रहित उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।

४१८–हित्त्वा रतिञ्च अरतिञ्च सीतिभूतं निरूपधिं ।
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३६॥

(हित्त्वा रतिं चाऽरतिं च शीतिभूतं निरूपधिम् ।
सर्वलोकाऽभिभवं वीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३६॥)

संतोष-असंतोष की बात छोड़ जो शान्त और परिग्रहरहित हो चुका है; उस सर्वलोकविजयी वीर को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

राजगृह (वेणुवन) वङ्गीस (थेर)

४१९-चुतिं यो वेदि सत्तानं उपपत्तिञ्च सब्बसो।
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३७॥

(च्युतिं यो वेद सत्त्वानां; उपपत्तिं च सर्वशः।
असक्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३७॥)

जो प्राणियों की च्युति(=मृत्यु) और उत्पत्तिको भली प्रकार जानता है, (जो) आसक्तिरहित सुगत (=सुन्दर गतिको प्राप्त) और बुद्ध (=ज्ञानी) है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४२०-यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३८॥

(यस्य गतिं न जानन्ति देव-गंधर्व-मानुषाः।
क्षीणास्रवं अरहन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३८॥)

जिसकी गति (=पहुँच) को देवता, गंधर्व, और मनुष्य नहीं जानते, जो क्षीणास्रव (=रागादिरहित) और अर्हत् है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

राजगृह (वेणुवन) धम्मदिन्ना (थेर)

४२१-यस्स पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९॥

(यस्य पुरश्च पश्चाच्च मध्ये च नाऽस्ति किंचन।
अकिंचनं अनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥३९॥)

जिसके पूर्व और पश्चात् और मध्यमें कुछ नहीं है, जो परिग्रहरहित =आदानरहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

जेतवन अङ्गुलिमाल (थेर)

४२२–उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४०॥

(ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षिं विजितवन्तम्।
अनेजं स्नातकं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४०॥)

(जो) ऋषभ (=श्रेष्ठ), प्रवर, वीर महर्षि, विजेता अकम्प्य, स्नातक और बुद्ध है, उसे मैं ब्रह्मण कहता हूँ।

जेतवन देवहित (ब्राह्मण)

४२३–पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिखयं पत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥४१॥

(पूर्वनिवासं यो वेद स्वर्गाऽपायं च पश्यति।
अथ जातिक्षयंप्राप्तोऽभिज्ञाव्यवसितो मुनिः।
सर्वव्यवसितव्यवसानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥४१॥)

जो पूर्वजन्म को जानता है, स्वर्ग और नरक को जिसने देख लिया है, जिसका पूर्वजन्म क्षीण हो चुका है, जिसकी प्रज्ञा पूर्ण हो चुकी है, जिसने अपना सब कुछ पूरा कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

बोधिनी

गाथा १ *धम्मा* = चित्तकी प्रवृत्तियाँ।

'मन' शब्द से यहाँ अर्थ है अच्छे या बुरे चित्तों का। साधु महात्मा को देखकर श्रद्धालु उपासक को दान देने का चित्त=मन उत्पन्न होता है। अथवा, शत्रु को देखकर शत्रु को उसकी हिंसा करने का चित्त उत्पन्न होता है, इत्यादि। दान देने के चित्त के साथ श्रद्धा, स्मृति, त्यागभाव मैत्री आदि अच्छी २ प्रवृत्तियाँ (=चैतसिक) उत्पन्न होती हैं। उसी तरह, हिंसा करने के चित्त के साथ मोह, निर्लज्जता, द्वेष, अभिमान आदि बुरी २ प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

अभिधर्म के अनुसार चित्त ८९ हैं, और चैतसिक ५२।

गाथा ७-८ *सुभानुपस्सी—असुभानुपस्सी*—संसार की आकर्षक चीजों को देख उनमें जो रस लेता है उसे 'सुभानुपस्सी' कहते हैं। और जो उनके प्रति वैराग्य उत्पन्न करता है उसे 'असुभानुपस्सी' कहते हैं। उदाहरणार्थ, 'सुभानुपस्सी' मूढ़ मनुष्य स्त्री-रूप को देखकर उसे बड़ा सुन्दर और सुखद समझता है; किंतु ज्ञानी 'असुभानुपस्सी' उसे माँस, हड्डी लहू, मल, मूत्र, आदि गन्दगियों से भरा देखता है।

गाथा ९—*अनिक्कसावो कासावं*—पहले 'कसाव' शब्द का अर्थ है 'चित्त-मल', और दूसरे का अर्थ है 'काषाय वस्त्र'।

गाथा ३१—*संयोजन* = सांसारिक बन्धन।

संयोजन दस हैं, जिनसे बद्ध प्राणी आवागमन के चक्र से नहीं छूटता। पहले पाँच संयोजनों को 'नीचे वाले' (=ओरंभागियानि) और दूसरे पाँच को 'ऊपर वाले' (=उद्धंभागियानि) बन्धन कहते हैं। यहाँ 'अणु' और 'स्थूल, संयोजनों से अर्थ इन्हीं से है।

पहले तीन संयोजन हैं—(१) *सत्कायदृष्टि* = आत्मा के होने में विश्वास, (२) *विचिकित्सा* = संदेह, (३) *शीलव्रतपरामर्श* = स्नान-तीर्थाटनादि बाह्य आचारों से ही केवल मुक्ति पा लेने में विश्वास। योगाभ्यास से अनित्य—अनात्म—दुःख का साक्षात्कार कर जिसने इन तीनों का प्रहाण कर दिया है उसे *श्रोतापन्न* कहते हैं, क्योंकि वह मोक्ष-गामी धारा में चला आया है। वह अधिक से अधिक सात जन्म ग्रहण करेगा। इसी के भीतर वह अवश्य निर्वाण पा लेगा। इसके बाद के दो संयोजन हैं—(४) *कामच्छन्द* = विषयकामना, और (५) *व्यापाद* = द्वेष। इन दो संयोजनों को अत्यन्त दुर्बल करके योगी *सकृदागामी* पद प्राप्त करता है। मरकर वह एक वार फिर मनुष्य-योनि ग्रहण करता है, और निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इन्हीं दो संयोजनों को यदि उसने सर्वथा प्रहाण कर दिया तो वह *अनागामी* हो जाता है; तब वह मरकर किसी देवलोक में जन्म ग्रहण करता है, और वहीं उच्च से उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त होता हुआ निर्वाण पा लेता है।

आगे के पाँच संयोजन हैं—(६) रूपराग, (७) अरूपराग = रूपावचर और अरूपावचर योग की दो भूमियाँ हैं, उनमें भी तृष्णा करना बन्धन है। (८) मान, (९) औद्धत्य = चंचलता और (१०) अविद्या। इनका भी सर्वथा प्रहाण कर योगी *अर्हत* हो जाता है। वीत-

तृष्ण हो जाने के कारण उसके कर्म दग्धबीज की तरह विपाक = फल उत्पन्न नहीं करते। शरीरत्याग के बाद वह फिर जन्म ग्रहण नहीं करता, आवागमन से युक्त हो जाता है।

श्रोतापन्न से बिल्कुल अर्हत् होने की एक अवस्था पहले तक प्राप्त सन्तको *सेख = शैक्ष* कहते हैं, क्योंकि उसे अभी कुछ और सीखना बाकी रहता है। जब वह सभी कुछ सीखकर पूर्ण सिद्ध कृतकृत्य अर्हत् हो जाता है, तब उसे असेख = अशैक्ष कहते हैं, क्यों कि उसे अब कुछ सीखना बाकी नहीं है।

श्रोतापन्न होने से पूर्व आवागमन के चक्र में पड़े सभी को पुथुज्जन = पृथक् जन कहते हैं।

गाथा ४४—*सेख = शैक्ष*। देखिए गाथा ३१।

गाथा ४७—*मृत्यु*—पाप का अधिपति 'मार' है। वही मृत्यु का भी द्योतक हैं। जो पाप से सर्वथा मुक्त हो गया वह मृत्युञ्जय है, क्योंकि वह आवागमन के चक्र से छूट गया है।

गाथा ४९—*वैसे ही मुनि*...इसका अर्थ यह है कि भिक्षु चुपचाप अधोदृष्टि किए गाँव में भिक्षाटन करे, अपनी ओर से किसी को कोई कष्ट होने न दे।

गाथा ६९—*विपाक* = कर्मफल। जब तक किसी की अविद्या-ग्रन्थि प्रहीण नहीं हुई हैं तब तक उसके अच्छे या बुरे कर्मों के संस्कार जमा होते रहते हैं, जिनके अनुसार पुनर्जन्म में उसकी गति होती है। इसे कर्म-बन्ध कहते हैं। यही कर्म का 'विपाक' है।

गाथा ७०—*महीने महीने पर*...इसका अर्थ यह है कि केवल

उपवासादि कठिन व्रतों के पालन करने से चित्त की शुद्धि नहीं होती। चित्त की शुद्धि तो योगाभ्यास से धर्म का साक्षात्कार करने से ही होती है। उपवासादि का ढोंग रच कर जो दूसरों पर प्रभाव डालना चाहते हैं उनसे सावधान रहना चाहिए।

गाथा ८५—*उस पार* = निर्वाण। *किनारे ही किनारे* = सत्काय दृष्टि वाले सिद्धान्तों में पड़े रहते हैं। अर्थ यह है कि बहुत लोग मुक्ति २ की रट लगाते हैं, किंतु आनन्द और सुख की तृष्णा को त्याग नहीं सकते। यह सुनकर काँप जाते हैं कि निर्वाण में उनका सर्वथा निरोध हो जायगा। इस कारण वे मुक्ति की तरह २ की कल्पना करते हैं जिसमें वे किसी स्थिर, सुखी, एकरस स्थितिका लाभ करना चाहते हैं। वे उस पार जाने वाले नहीं हैं।

गाथा ८९—*सम्बोध्यङ्ग*—सात हैं—(१) स्मृति=सतत जागरूकता (२) धर्मविचय=सत्यजिज्ञासा, (३) वीर्य = धर्माभ्यास में उत्साह, (४) प्रीति = एकाग्रता जनित चित्त का आह्लाद, (५) प्रश्रब्धि = चित्त की परम शान्ति, (६) समाधि = अकम्प्य एकाग्रता, और (७) उपेक्षा= चित्त में सुख या दुःख का लेश भी नहीं रहना।

इन सात अङ्गों को सिद्ध करके ही कोई परम ज्ञान (= सम्बोधि) का लाभ कर सकता है। अतः, इन्हें सम्बोध्यङ्ग कहते हैं।

क्षीणाश्रव—अर्हत्, जिसका चित्तमल सर्वथा प्रहीण हो चुका है।

गाथा ९०—*मार्ग*···आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग में सिद्धि प्राप्त कर मुक्त हो गया है। उसे अब कुछ और सिद्ध करना बाकी नहीं रहा। यह अष्टाङ्गिक मार्ग है—(१) सम्यक्-दृष्टि=अनित्य-अनात्य-दुःख का

ज्ञान, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाणी, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् जीविका, (६) सम्यक् व्यायाम = सदुत्साह, (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि। इनमें पहले दो ज्ञान-सम्बन्धी = प्रज्ञा हैं; बीच के चार आचारसम्बन्धी = शील हैं; और अन्तिम दो योग-सम्बन्धी = समाधि हैं।

ग्रन्थियाँ = संयोजन, देखिए गाथा ३१।

गाथा ९२—*शून्य, अनिमित्त*—समाधिस्थ हो योगी जब सत्ता मात्र के अनित्य-अनात्म-दुःख स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तब उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है, और वह शरीर त्याग के बाद फिर जन्म नहीं ग्रहण करता। यही अर्हत् का पद है। निर्वाण = विमोक्ष तो एक ही है, किंतु प्राप्त करने के मार्ग के भेद से इसके तीन नाम हैं। जिस योगी ने अनात्म का साक्षात्कार करके तृष्णा का प्रहाण किया है उसके इस निर्वाण को '*शून्य-स्वरूप*' कहते हैं। जिसने अनित्य का साक्षात्कार करके तृष्णा का प्रहाण किया है उसके इस निर्वाण को '*अनिमित्त-स्वरूप*' कहते हैं। जिसने दुख का० इस निर्वाण को 'अप्रणिहित-स्वरूप' कहते हैं।

गाथा ९५—*इन्द्रकील*—पहले नगरद्वार के ठीक सामने पत्थर का बहुत बड़ा स्तम्भ खड़ा कर देते थे, जिससे आक्रमण के समय शत्रु हाथी को हूल कर दरवाजे को तोड़ न सके। वह खूब दृढ़ और ठोस होता था। इसी से स्थिरता की उपमा उससे दी जाती थी।

ग्रन्थियों = संयोजन। देखिए गाथा ३१।

गाथा ९६—*सम्मदञ्ञा = यथार्थज्ञान*—समाधिस्थ हो अनित्य-अनात्म-दुःख का साक्षात्कार करने से जो परम ज्ञान प्राप्त होता है।

गाथा ९७—यह द्वयर्थक गाथा है। इसके शब्दों के दो २ अर्थ इस प्रकार हैं—

शब्द		**ऊपरी अर्थ**	**यथार्थ**
अस्सद्धो	=	श्रद्धा रहित	अन्ध विश्वास
अकतञ्ञू	=	अकृतज्ञ	अकृत=निर्वाण, उसको जानने वाला
सन्धिच्छेदो	=	सेंध मारने वाला	सन्धि=संयोजन, उसे जिसने छिन्न कर दिया है
हतावकासो	=	अवकाश रहित	पुनर्जन्म का जिसे अवकाश नहीं
वन्तासो	=	आशारहित	आशा=तृष्णा, जिसकी सारी तृष्णा छूट चुकी है।

इस तरह, गाथा के ऊपरी अर्थ देखने से बड़ा उटपटांग सा लगता है। यह कि, जो श्रद्धाहीन, अकृतज्ञ, सेंध मारने वाला, अवकाशहीन, निराश है वही उत्तम पुरुष है। किंतु, इसका सच्चा अर्थ तो गाथा के साथ है।

गाथा १०८—*ऋजुभूत*=सीधे, जिनमें किसी प्रकार की कुटिलता नहीं है। "श्रोतापन्न से लेकर अर्हत् तक" अट्ठकथा।

गाथा १०९—*चार बातें*—मिलाइए मनु, २, १२१।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

गाथा १२९—मिलाइए, हितोपदेश १. २.

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥

गाथा १३१—मिलाइए, मनु ५. ४५.

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥

महाभारत—

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः ।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव सुखी भवेत् ॥

गाथा १५३-१५४

बुद्धत्व लाभ करने के बाद ही भगवान् के मुख से यह गाथायें निकली थीं—

यहाँ गृहकारक से अर्थ है तृष्णा का, क्योंकि यही इस शरीररूपी गृह को बार २ इस संसार में खड़ा करती है ।

फासुका = कड़ियों से अर्थ है बारहों निदान का । गृहकूट = गृह का शिखर से अर्थ है अविद्या का, क्योंकि बारह निदानों की कोटि यही है । 'संस्कार-रहित' का अर्थ है कर्मबन्ध मे मुक्त ।

अनिब्बिसं = न जानते हुए ।

सन्धाविस्सं—यह भविष्यकाल आत्मनेपद, उत्तमपुरुष, एकवचन का रूप है । देखिए, पालिमहाव्याकरण ! यहाँ भूतकाल के अर्थ में भविष्यत्काल का प्रयोग हुआ है ।

गाथा १५७—*तीन पहर*—रात के तीन पहर में एक पहर जागकर अभ्यास अवश्य करे । अथवा, तरुण, युवा और वृद्ध इन तीन अवस्थाओं में किसी एक में सम्हल कर उत्साह से योगाभ्यास करे ।

गाथा १६०—मिलाइए, भगवद्गीता ६, ५।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो॥बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

गाथा १६२—*मालुवा लता*—यह लता वृक्ष पर पूरी तरह छा ाती है। 'इसके पत्ते कटोरे जैसे खुले होते हैं। पानी बरसने पर सभी त्ते भर जाते हैं, और उनके वजन से बड़े-बड़े वृक्ष भी गिर जाते हैं। गह्ठ कथा।

गाथा १६४—*मिथ्या धारणा*—आत्मा में विश्वास करना, तथा किसी भी पदार्थ को नित्य और सुख करके मानना।

गाथा१७५—*मार* = पाप का अधिपति। काम क्रोध आदि सभी ुरी वृत्तियाँ उसकी सेना कही जाती हैं।

गाथा १७८—*श्रोतापति-फल*—देखिए गाथा २१। श्रोतापन्न, ाकृदागागी, अनागामी तथा अर्हत्, इन चारों के मार्ग और फल के भेद े दो २ अवस्थाएँ हैं। उस पद को प्राप्त करने का जो पहला क्षण है उसे 'मार्ग' कहते हैं। जब वह जान कर दूसरे क्षण में उस पर स्थिर हो ाता है तो उसे 'फल' कहते हैं। इस तरह, मोक्षका प्रारम्भ श्रोतापत्ति-ार्ग से होता है और अर्हत्फल में जाकर पूर्ण हो जाता है।

गाथा १८५—*प्रातिमोक्ष*—भगवान ने भिक्षुओं को जिन नियमों का ालन करने को आदेश दिया उन्हीं के संग्रह 'को प्रातिमोक्ष' कहते हैं। ात्येक भिक्षु से आशा की जाती है कि वह उन नियमों को पूर्णतया नेभायेगा।

गाथा १६२—*सम्यक् प्रज्ञा* = समाधिस्थ हो अनित्य-अनात्म दुःख

का साक्षात्कार कर सत्ता मात्र के स्वरूप का जो ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसी से यहाँ अभिप्रेत है।

आर्य आष्टांमिक मार्ग—देखिए गाथा ९० ।

गाथा २००—*प्रीतिभक्त आभास्वर देव*—यह एक देवयोनि है, जहाँ उनके चित्तका भीतरी आह्लाद ही उनका भोजन है।

गाथा २०२–*पाँच स्कन्ध*—ये हैं–(१) रूप, (२) वेदना, (३) संज्ञा, (४) संस्कार, और (५) विज्ञान। हमारा व्यक्तित्व इन्हीं भौतिक और मानसिक अवस्थाओं का समुदाय मात्र है। इनसे पृथक् आत्मा= जीव=पुरुष नाम की कोई चीज़ नहीं है।

गाथा—२०३–*संस्कार* = कर्मबन्ध

गाथा २१८—*ऊर्ध्वस्रोत*—यह आनागामी की अवस्था है, देखिए गाथा ३१ ।

मनुष्य योनि से च्युत हो कर वह किसी देवलोक में उत्पन्न होता है, और वहीं उच्च से उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ निर्वाण का लाभकर लेता है। इसी से उसे ऊर्ध्वस्त्रोत् अर्थात् धारा के ऊपर चढ़नेवाला कहते हैं।

गाथा २२१—*संयोजन*—देखिए गाथा ३१ ।

नाम-रूप–सभी भौतिक अवस्थाओं को 'रूप, और सभी अभौतिक अवस्थाओं (=चित, चैतसिक, सूक्ष्म रूप, निर्वाण, प्रज्ञप्ति = conecpt) को 'नाम' कहते हैं।

गाथा २३६—*पाथेय*, यहाँ इसका अर्थ 'पुण्य कर्म' से है, क्योंकि परलोक में अपना पुण्य ही आधार होता है।

द्वीप=इस संसार सागर में प्रतिष्ठा-भूत अपने सुकर्म ।

आर्यों के दिव्य पद—श्रोतापन्न आदि पहुँचे हुए संतों को 'आर्य=श्रेष्ठ' कहते हैं, उनके पद ।

गाथा २९२—*कायगता सति*=अपने शरीर के विषयों में स्मृति । हम लोगों का शरीर बत्तीस प्रकार की गन्दगियों से भरा है, जैसे केश, लोम, नख, दाँत, त्वचा, मांस, श्नायु, हड्डी, मज्जा, हृदय, यकृत, क्लोमक, स्प्लीहा, फुप्फुस, आँत, लम्बी आँत, उदर, मैला, मूत्र, पित्त, कफ़, पीब, लहू, पसीना, चरबी, आँसू, वसा, थूक, नाक का पोटा, लस्सी, दिमाग । अपनी इन गन्दगियों पर मनन करने से अपने शरीर के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, और मुक्ति की ओर प्रवृत्ति होती है । इन पर मनन करके इनके विषय में सतत जागरूक रहने को 'कायगता सति' कहते हैं ।

गाथा २९४-२९५—*शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि*—मरने के बाद कूटस्थ वही स्थिर आत्मा=जीव एक शरीर से निकल कर दूसरे में प्रवेश करता है, ऐसी मिथ्या धारणा को शाश्वत दृष्टि कहते हैं । और, मरने के बाद व्यक्तित्व का लोप हो जाता है, वह नहीं रहता, ऐसी मिथ्या धारणा को उच्छेद दृष्टि कहते हैं । इन दोनों अन्तों को छोड़, बौद्ध दर्शन मध्य का मार्ग बताता है । यह कि, चित्त की संतति प्रतीत्यसमुत्पन्न हो एक योनि से दूसरी योनि में प्रवाहित होती है । जिस प्रकार पहले पहर की प्रदीप-शिखा दूसरे पहर में बिल्कुल वही नहीं रहती है, और न अत्यन्त भिन्न हो जाती है, उसी तरह जनमने वाला न तो बिल्कुल वही है और न भिन्न । किंतु, उसका तादात्म्य संततिगत है ।

गाथा २९५—*वेय्यग्घपञ्चमं*=पाँच नीवरण । पाँच नीवरण हैं—

(१) कामच्छन्द = विषयकामना, (२) व्यापाद = द्वेष, (३) स्त्यान-मृद्ध= आलस्य, (४) औद्धत्य-कौकृत्य = चित्त का चाञ्चल्य और पाश्चात्ताप, (५) विचिकित्सा = शंशय । जब तक यह पाँच बातें उपस्थित रहती हैं तबतक समाधि का लाभ नहीं हो सकता। इसीसे इन्हें नीवरण=रुकावट= समाधि के लिए रुकावट कहते हैं।

अन्तिम नीवरण 'शंशय' है। शंशय को पालि में 'वेय्यग्घ' भी कहते हैं। जंगल में संध्या समय पेड़-पौधों को देख कर भी बाघ का शंशय उत्पन्न हो जाता है। इसी से 'शंशय = विचिकित्सा' को वेय्यग्घ कहते हैं। इन पाँच नीवरणों में अन्तिम विचिकित्सा = वेय्यग्घहै, इसलिए उन सभी को 'वेय्यग्घपञ्चम' के नाम से कहा।

इन पाँच नीवरणों पर विजय प्राप्त कर जो समाधि प्राप्त होती है उसे *समथ समाधि*, कहते हैं। और, अनित्य-अनात्म-दुःख पर समाधि प्राप्त कर जो संयोजनों का प्रहाण करना है उसे *विपश्यना-समाधि* कहते हैं। पहले को 'लौकिक' और दूसरे को 'लोकोत्तर' समाधि भी कहते हैं।

गाथा २९९—*कायगता*—देखिए २९२।

गाथा ३३९—*छत्तीस श्रोत*—अठारह धातु- बाह्य और अभ्यान्तर भेद से छत्तीस।

गाथा ३४१—*सरितानि*=स्मृतानि। पहले की बातों को याद करना बड़ा प्रिय होता है, ऐसा भी अर्थ करते हैं।

गाथा **३४४**—यह एक भिक्षु को लक्ष्य करके कहा गया है जो राग में पड़ फिर भी गृहस्थ हो गया। एक बार गृह-बन्धन से मुक्त हो फिर उसी बन्धन में पड़ा।

गाथा ३७०—पाँच नीचे के संयोजनों को काटे, पाँच ऊपर के संयोजनो छोड़े [देखिए गाथा २९५]। श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच इन्द्रियों का अभ्यास करे। पाँच बन्धनों को पार कर गया—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों की आसक्ति से मुक्त।

गाथा ३८५—*समथ और विदर्शना*—देखिए २९५।

गाथा ३९७—नद्धि = यहाँ, द्वेष। रस्सी = यहाँ, राग। पगहे: = मोह। जूए को फेंक = अविद्या के सारे भार को छोड़।

पाद-सूची

गाथा के प्रथम पाद काले अक्षरों में हैं।

हिन्दी में बौद्ध-पुस्तकें

मज्झिम निकाय	६)
दीघ निकाय	५)
विनय पिटक	६)
पालि महाव्याकरण	५)
उदान	।)
बुद्ध-वचन	।।)
बुद्ध की शिक्षा	।)
महावंस	३।)
भिक्षु के पत्र	१।।)
बुद्धगीता	।।)
बुद्धचरित	२।।)
धम्मपद	१।।)
मिलिन्द प्रश्न	३।।)
लोक नीति	१)
कुशिनगर का इतिहास	१)
सुत्त-निपात	१)
बुद्ध-शतक	।)
बौद्ध-दर्शन	२।।)
बोधिद्रुम	।=)